VOL. VII PART-II APRIL 2001 (BI-MONTHLY)

JOTI JOURNAL

न्यायिक अधिकारी प्रशिक्षण संस्थान

उच्च न्यायालय, जबलपुर - 482 007

JUDICIAL OFFICER'S TRAINING INSTITUTE
HIGH COURT OF MADHYA PRADESH
JABALPUR-482 007
☎ 325995

संपादकीय

न्यायाधीश : शुचिकर्मा

कुछ दिन पूर्व प्रशिक्षण कक्षा में प्रशिक्षु न्यायाधीशों के सामने विभिन्न समस्याओं का निदान करने का यथोचित प्रयत्न हो रहा था। बाहर गांव से फोन आया तो मैं चेंबर में गया बात की एवं तुरंत कक्षा में पढ़ाने वापस आया। पढ़ाते–पढ़ाते मैंने बताया कि एक बहुत बढ़िया जिला न्यायाधीश स्तर के व्यक्ति का फोन था। वह व्यक्ति न्यायपालिका का एक हीरा है उसके जैसे बनो। किसी एक प्रशिक्षु ने कहा सर! हम हीरा नहीं हैं क्या? बड़े ही शुद्ध मन से भावुकता से कहा था। यह प्रश्न मेरे लिए अचानक था क्या उत्तर देता। जौहरी नहीं हूं जो पहचान लूं। लेकिन ये निश्चित है कि आप कांच नहीं हैं। आप भी हीरा हो लेकिन प्रश्न ये है कि मैं अच्छा तराशने वाला हूं या नहीं। आपको तराशने हेतु मैं यहां बैठा हूं। प्रयत्न है कि आपको उचित आकार दूं आप का व्यक्तित्व अष्ट पहलू वाला हो लेकिन थोड़ा धीरज तो रखना होगा, विश्वास भी रखना होगा। तराशने का काम तो उसे करना ही है जो इस पद पर आएगा। उसका यही तो काम है। तराशने वाला कारीगर बिलकुल कोशिश में है, दत्त चित्त होकर यह कार्य करने का प्रयत्न कर रहा है लेकिन तराशने के बाद प्राप्त होने वाले आकार की अपेक्षा करने वालों को शब्द बोध एवं ज्ञानबोध के छेनी हथौड़े (chisel-mallet- hammer) के झटके तो सहन करना होंगे। जब आप सहन कर लेंगे तो निश्चित ही आपका व्यक्तित्व दैदीप्यमान होगा और तब न्यायाधीश के न्यायपीठ पर जो हथौड़ा रखा जाता है वह अपने दैदीप्यमान व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व कर रहा होगा। प्रशिक्षुगणों को कहा कि जो हथौड़े के घाव सहन न कर पाएंगे वे कांच जैसे टूट जाएंगे। जो ज्ञान को ग्रहण नहीं करेंगे वे आकार नहीं ले पाएंगे। हीरा आप हो, तराशेंगे हम, घाव आप सहन करना मजबूती से, परखने वाली कई आंखें होंगी, आपकी चमक ऐसी हो कि उनकी नजर टस से मस न हो। यही आपकी पहचान होगी।

पुनः एक दिन ऐसा ही हुआ। एक ने कहा हम न्यायाधीशों को ऐसे लोगों के बीच रहना पड़ता है जो असामाजिक तत्व होते हैं, जो काम नहीं करते हैं, जो भ्रष्ट होते हैं जो पढ़ते नहीं हैं आदि। उसकी बात जमी नहीं। उसका चिंतन बहुत ही सतही था। सोचने समझने की एवं अवलोकन (ऑब्जरवेशन) क्षमता का विकास नहीं हुआ था, उसकी साधना में कमी थी। उसे उस सरोवर की कल्पना ही नहीं थी जिसमें कमल का अस्तित्व होता है। कमल के दो विशाल पत्ते फैले होते हैं व फूल पानी से ऊँचाई पर होता है। पानी में होकर पानी से दूर परंतु बैर भाव नहीं। कमल के पत्ते उसे सहारा दे रहे हैं। हम भी तो कमल होंगे। हमारे दो पत्ते होंगे। एक हमारा संयम तो दूसरा हमारा समर्पण। कर्म के प्रति समर्पण एवं मोह माया से संयम। कमल का तो भारत में पुराणादिकाल से साहित्यिक व संस्कृतिक महत्व है। वह हमारे संस्कृति का प्रतीक है। कमल ज्ञान का प्रबोधक है, ज्ञान की शोभा है, वैभव का प्रतीक है, शुचित्व एवं शुद्धता का प्रतीक है तथा शाश्वत जीवन है, अमृत जैसा है। क्या नहीं है। भर्तृहरि का कहना है :–

पयसा कमलं कमलेन पयः
पयसा कमलेन विभाति सरः

अर्थात पानी के कारण कमल की एवं कमल के कारण पानी की शोभा है तथा पानी और कमल से सरोवर की शोभा है।

पंक में रहकर पंक (कीचड़) से विरक्ति और फिर भी नाम पंकज (योगरूढ़ि)। कितना बड़ा संयम यही सन्यास है। हिमालय पर बैठकर क्या विरक्ति। आसक्तों के बीच अनासक्त होना ही तो सन्यास है। हमारे लिए

यह संभव नहीं है ऐसी बात नहीं है। कमी है तो हमारे लक्ष में, निश्चय में, दृढ़ता में। कहीं न कहीं हम चूक रहे हैं। हमने हमारा न्यायिक कार्य के एक मात्र तथ्य के साथ किसी और लक्ष्य को भी ध्यान कर लिया है या कुछ न कुछ भय मन में असुरक्षा का स्थापित हो गया है जिस कारण व्यथित भाव मन में बार–बार आ रहे हैं और इसका एक उदाहरण अभी एक दिन घर पर किसी मुख्य न्यायिक दंडाधिकारी से सुनने को मिला। औपचारिक बातचीत में वो कह रहे थे कि हर कोई यूनिट्स के विषय में चर्चा कर रहा था कि कोई कहता है मेरा कार्य कम होता है, तो कोई कहता है मैं दस तो कोई आठ यूनिट्स देता हूं। वे सी.जे.एम. थे। पूछा कार्य की गुणवत्ता के संबंध में आपका अभिमत क्या है तो वे मौन थे। अर्थात हमारा एक मात्र लक्ष्य यूनिट्स हो गया है, गुणवत्ता की उपेक्षा हो रही है। अर्थात हमने अपना मापदंड गुणात्मक से संख्यात्मक में परिवर्तित कर दिया है। वे कहने लगे कि संख्यात्मक कार्य के लिए हर कोई हथकंडे जानना व अपनाना चाहता है। हथकंडे शब्द से मुझे पं. विष्णु नारायण भातखंडे जी की याद आ गई। जिन्होंने उन्नीसवीं सदी में भारतीय संगीत को नई दिशाएं प्रदान की। शास्त्र शुद्ध संगीत का मार्ग प्रशस्त किया अब भातखंडे की आवश्यकता नहीं अब तो हथकंडों की आवश्यकता है। पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर ने वही काम किया जो भातखंडे जी ने किया। गुणात्मक स्वरूप कायम रखने का सतत् प्रयत्न भातखंडे जी व पलुस्कर जी ने किया। हम अब हतकंडे एवं पलायनकर बनते जा रहे हैं। दोष तो हमारा है। हम हमारी नौकरी सुरक्षित करना चाहते हैं। न्यायदान का लक्ष्य या तो द्वितीयक हो गया है या रहा ही नही है। भय एवं न्यायदान का कोई संबंध नहीं है। ठीक वैसे ही जैसे दानी एवं लोभी का कोई मेल नहीं। एक कहावत है कि यदि आपको एक वृक्ष आठ घंटों में काटना है तो छह घंटे तो आप आरी की सान लगाने में खर्च करें दो घंटों में वृक्ष काटा जा सकेगा। (If I had 8 hours to chop a tree I would spend 6 hours sharpening my axe.) यूनिट्स् कोई बात नहीं होती है गुणात्मक सुधार यदि होगा तो यूनिट्स् तो अपने आप तैयार होंगे। यहीं पर हम चूक रहे हैं। भारतीय संस्कृति का एक महान अंग है जिसे महात्मा गांधी एवं संत विनोबा भावे जी ने व्यवहार में भी उतारा था वह परंपरा है साध्य के साथ साधनों की भी शुचिता हो। हमारा लक्ष्य एवं हमारा मार्ग दोनों ही शुद्ध हों तो ही हम शुचिकर्मा कहलाने के हकदार होंगे।

मित्रों! पठन पाठन यह सतत प्रक्रिया है उसे अपनाना होगा। मार्ग आसान नहीं है, निष्कंटक नहीं है। लेकिन हमारा मनोबल, हमारा विश्वास एवं हमारा निर्धार मात्र हमें कमल जैसा बनाने में व हीरे जैसा पक्का, मजबूत एवं महद्द्युतिम बनाने में सहायक होगा।

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

QUALITY

- THE BEST IS THE CHEAPEST
- QUALITY WITHOUT QUANTITY, IS LITTLE THOUGHT OF.
- THE QUALITY AND EFFICIENCY OF OUR WORK DEPENDS UPON THE SPIRIT WITH WHICH WE APPROACH OUR WORK AND THIS, IN TURN, INFLUENCES OUR CHARACTER.

  R.K. MURTI
- MANY INDIVIDUALS HAVE, LIKE UNCUT DIAMONDS, SHINING QUALITIES BENEATH A ROUGH EXTERIOR.

  JUVENAL

चिन्तन एवं अध्ययन

व्यवहार न्यायाधीश वर्ग 2 सन 2000 के नियुक्त प्रशिक्षुगणों के दो और सत्र, दिनांक 29–1–2001 से 07–2–2001 तक एवं दिनांक 19–2–2001 से 28–2–2001 के पुनर्निवेशन–सम्भरक वर्ग के रूप में संपन्न हुए। एक और सत्र दिनांक 12–3–2001 से प्रारम्भ हुआ जो दिनांक 21–2–2001 को संपन्न हुआ। पिछले वर्ष पदोन्नत अतिरिक्त जिला न्यायाधीशों के लिए भी एक प्रशिक्षण वर्ग 18 अप्रेल 2001 से 25 अप्रेल 2001 तक का आयोजित है जो ग्रीष्मावकाश के पूर्व का अन्तिम सत्र हो सकेगा।

29 जनवरी से प्रारम्भ सत्र के मंगलारम्भ अवसर पर माननीय न्यायाधिपति श्रीमान व्ही.के. अग्रवाल महोदय की गौरवपूर्ण उपस्थिति थी। उन्होंने अपने उद्‌बोधन में व्यवहार न्यायाधीशों को महत्वपूर्ण व्यवहारिक बातों से अवगत कराया। सबसे पहली व महत्वपूर्ण बात उन्होंने कही कि वे अफसर (अधिकारी) नहीं हैं अपितु न्यायाधीश हैं। न्यायाधीश किसी भी स्तर (लेव्हल) का हो वह न्यायाधीश कहलाता है लेकिन आजकल एक फैशन निकल पड़ा है कि वे अपने आप को न्यायिक अधिकारी कहलाना पंसद करते हैं। लेकिन ऐसा उचित नहीं है। न्यायाधीश कहलाने में गौरव का अनुभव होता है क्योंकि वह व्यक्ति न्यायिक कर्म करता है, न्यायदान का काम करता है। अतः पद की गरिमा का ख्याल तब रखा जा सकेगा जब झूठी शान न हो। आचरण व व्यवहार, जो आप करते हैं वह यदि पदोचित है तो आप और आप के पद दोनों का सम्मान बढ़ाता है। सीखने की प्रक्रिया को सतत् जारी रखने की अपेक्षा करते हुए माननीय न्यायाधिपति श्रीमान व्ही.के. अग्रवाल महोदय ने कहा कि यदि कोई न्यायाधीश यह अनुभव करने लग जाए कि कुर्सी पर आसीन होते ही वह सर्वज्ञाता हो गया है तो ऐसा भ्रम शीघ्र टूट जाएगा। न्यायदान के इस कार्य में न्यायाधीश को प्रकरण के तथ्य, प्रक्रिया संबंधी विधि एवं सारवान विधि का विस्तृत ज्ञान होना चाहिए। आद्यतन न्याय दृष्टांतों को भी पढ़ा जाना चाहिए जिससे विषय को समझने में सुविधा होगी। न्यायाधीश का गुण है धैर्य। ऐसा कहते हुए श्रीमान अग्रवाल साहेब ने यह भी कहा कि धैर्य खोना नहीं है व झुंझलाहट नहीं आना चाहिए एवं कभी आए तब भी उसे वश में करना होगा। न्यायालय कक्ष में न्यायिक कार्य मात्र होना है अतः कार्य के समय सीमित बातें करें जिससे किसी को अनावश्यक रूप से कोई निष्कर्ष निकालने का अवसर प्राप्त न हो। अनावश्यक बातें विवादों को जन्म देती हैं। आपको जो कुछ कहना है व आप अपने आदेश/निर्णय के माध्यम से बोले आपको न्यायिक विवेक से कार्य करना होता है। आपका विवेक न्यायिक तब होगा तो विधि विधान के अनुसार उचित व संभाव्य विवेक जागृत करके होगा। अतः विधि–विधान एवं तथ्यों को अच्छे से ज्ञान होना आवश्यक है।

न्यायिक कार्य पर पकड़ के सम्बन्ध में माननीय न्यायाधिपति श्रीमान अग्रवाल साहेब ने कहा कि यह कार्य श्रम साध्य है। एक कला के रूप में विकसित होना है। कला के रूप में कोई गुण विकसित होने के लिए सतत साधना की आवश्यकता होती है। सतत साधना से न्यायिक बंधुओ की वैचारिक धारणा (कनसेप्ट) बिलकुल स्पष्ट हो जाएगी। धीरे–धीरे न्यायाधीश पारंगत होता जाता है।

दिनांक 20 फरवरी 2001 को तृतीय सत्र के मंगलाचरण के अवसर पर माननीय न्यायाधिपति श्रीमान एस.पी. खरे महोदय ने गौरवपूर्ण विचार व्यक्त किए। माननीय महोदय ने कहा कि न्यायाधीश को एक विशेष लाभ ये है कि न्याय प्राप्त करने हेतु पक्षकार एवं अधिवक्ता न्यायालय में आते हैं। आपको कोई भी, कितने भी बड़े पद पर क्यों न हो यह निर्देश नहीं दे सकता कि आप इस प्रकरण में ऐसा आदेश/निर्णय पारित करें। आपका

अपना न्यायिक स्वविवेक होता है उस अनुरूप आपको अपना न्यायधर्म निभाना है। ऐसी अहम जिम्मेदारी जब आप पर है तब आपका स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है कि आप प्रत्येक प्रकरण जिसमें आप आदेश/निर्णय देंगे उसका गहन अध्ययन हो। आपको जहां प्रक्रिया संबंधी अथवा न्यायिक चिंतन विषयक समस्या उत्पन्न हो अनुभवी वरिष्ठजनों से निःसंकोच रूप से हल करने हेतु चर्चा करना चाहिए व आपने यथोचित रूप से स्वयं निष्कर्ष निकालना चाहिए। अद्यतन न्याय दृष्टांत विषयानुसार उपलब्ध हो सकें इसलिए उचित होगा कि एक रजिस्टर रखा जावे एवं उसमें विषयवार अनुक्रम बनाकर आवश्यक विषयों पर न्याय दृष्टांत टिप्पणी रूप से नोट कर लें जिससे मस्तिष्क पटल पर उन दृष्टांतों के विषय में सरसरी रूप से सतत कल्पना भी बनी रहेगी व आवश्यकतानुसार उसका उपयोग भी हो सकेगा। यही बात माननीय न्यायाधिपति श्रीमान व्ही.के. अग्रवाल महोदय ने भी अपने उद्‌बोधन में कही थी।

व्यवहार न्यायाधीशों के प्रशिक्षण कार्यक्रम के अंतिम चक्र में माननीय न्यायाधिपति श्रीमान एस.एस. सराफ महोदय ने दि. 13-3-2001 को मंगलारंभ किया। उन्होंने मार्गदर्शन के रूप में यह बताया कि न्यायाधीश चाहे किसी भी स्तर का हो वह संवैधानिक दायित्व का निर्वाह करता है। अतः जहां भारतीय संविधान के अंतर्गत दायित्वों का निर्वाह किया जाना है तो यह गुरूतर कार्य है। जहां गुरूतर कार्य हो वहां हमारे व्यवहार व योग्यता में भी गुरूत्व हो। जहां गुरुत्व है वहां गुरूत्तर कार्य भी आसानी से किया जा सकता है। न्यायाधीश का कार्य निष्पक्षता से हो तथा जाति वर्ग धर्म लिंग के आधार से पूर्वाग्रह से कार्य नहीं होना चाहिए। हमारा आचरण अत्यंत स्फटिक रूप का हो ताकि किसी को भी आशंका तक उत्पन्न न हो कि हम किसी से किसी प्रकरण में पूर्वाग्रह से लाभ/हानि पहुंचाना चाहते हैं। निर्णय, रिकार्ड में टेंपरिंग, बदलाव आदि कभी भी नहीं करना चाहिए जब निर्णय रिकार्ड पर हस्ताक्षर कर दिए जावें। प्रारंभिक न्यायालयों के न्यायाधीशों ने नज़ारत–मालखाने विषयक कार्य में अत्यंत जागरूकता रखना चाहिए। क्योंकि दुर्विनियोजन व न्यास भंग की स्थिति हमेशा संभाव्य रहती है। बहुमूल्य संपत्ति आदि विशेष रूप से न्यायाधीश को अपने सामने सील कराना चाहिये। प्राप्ति रसीद जो न्यायालय देता है उस पर न्यायाधीश के हस्ताक्षर मूल व उसकी नकल पर पृथक पृथक से करना चाहिये। रसीद के नीचे कार्बन रखा हो तो उसे हटाकर प्रत्येक रसीद व उसकी नकल पर हस्ताक्षर करें; इससे किसी प्रकार का घोटाला न हो यह सुनिश्चित होने की संभावना ज्यादा होती है। न्यायिक कार्य के साथ साथ न्यायाधीश ने अपना प्रशासनिक कार्य भी सतर्कता से करना चाहिये। विद्वत्ता, निष्पक्षता उसकी साम्यता (फेअरनेस) एवं ईमानदारी ये चार स्तंभ न्यायाधीश की आधारशिला हैं। ये गुण धीरे धीरे विकसित होते हैं। अतः सतत् रूप से अपना व्यवहार इसी अनुरूप करें।

इन तीनों ही सत्रों में माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर.पी. अवस्थी महोदय (सेवानिवृत्त) सक्रिय रूप से सम्मिलित रहे। प्रक्रिया सम्बन्धी विधि के विषयों पर विस्तारपूर्वक चिन्तन प्रस्तुत किया एवं न्यायाधीश बंधुओं ने जो कार्य न्यायालयों में निष्पादित किया था उसका परीक्षण करके उसपर विस्तार से भाष्य भी किया।

जबलपुर मेडीकल कालेज के विभागाध्यक्ष श्री डी.के. शाकल्ले ने अपने विद्वतापूर्ण व्याख्यानों के माध्यम से विधि विज्ञान व विष विज्ञान विषय पर न्यायिक दंडाधिकारीगणों को जानने योग्य बातों पर सुगम्य रूप से बताया। ऐसे ही योग्यतापूर्ण व्याख्यान, श्री एस.एन. खरे, श्रीमती शशिकिरण ताम्रकार, श्री बी.के. श्रीवास्तव, अतिरिक्त जिला न्यायाधीशगण श्री सी.व्ही. सिरपुरकर, एडीशनल रजिस्ट्रार (जे) उच्च न्यायालय, जबलपुर, श्री राकेश श्रोतिय व्यवहार न्यायाधीश वर्ग 1 एवं रेलवे मजिस्ट्रेट श्री ए.के. सिंह ने भी दिये थे। श्री के.डी. खान सचिव, म.प्र. उच्च न्यायालय विधिक सेवा समिति का विशेष योगदान रहा जिन्होंने विधिक सेवा विषय पर विस्तार से व्यवहारिक रूप से विचारों की अभिव्यक्ति प्रदान की।

●

LEGAL PROFESSION IN NEXT MILLENNIUM

(Speech delivered on LAW DAY, 26th November, 2000 in M.P. High Court Bar Association, Jabalpur)

JUSTICE R.C. LAHOTI
Judge, Supreme Court of India

CONSTITUTION- FEW NOTABLE FACTS

We have assembled here to commemorate and celebrate the LAW DAY, the 51st anniversary of the conceptualisation of a great document, that is, the Constitution of India. It is an appropriate occasion to remember and pay homage to the great architects of this great document. Carving, creating and shaping of the Constitution- a stupendous task Indeed- was entrusted to a galaxy of celebrities and eminent experts : Dr. B. R. Ambedkar, Alladi Krishnaswamy Iyer, Dr. K.M. Munshi, N. Gopalaswamy Iyengar, B.L. Mitter, D.P. Khaitan, Muhammed Saadulla, N. Madhava Rao, T.T. Krishnamachari and a host of other outstanding personalities. The draft was prepared by Sir B.N. Rau on the basis of which the committee worked.

The draft Constitution was published in January 1948. The people were given eight months to discuss it and give their suggestions. On November 4, 1948, the general discussion began in the Constituent Assembly and continued till November 9. Between November 15, 1948 and October 17, 1949, the draft was thoroughly discussed clause by clause. As many as 7,635 amendments were proposed and 2,473 were actually discussed. The draft was given a third reading from November 14 to 26, 1949. The Constitution was adopted on November 26, 1949 and it was signed by Dr. Rejendra Prasad as the Chairman of the Constituent Assembly. In all there were 11 sessions. The Assembly sat for two years, 11 months and 18 days. The consideration of the draft Constitution took 114 days and the Constitution came into force on January 26, 1950.

In the famous Fundamental Rights case ***(Kehsavananda Bharati vs. the State of Kerala),*** the Supreme Court observed : "The Constitution is unique, apart from being the longest in the world. It is meant for the second largest population with a diverse people speaking different languages and professing varying relligions. It was chiseld and shaped by great political leaders and legal luminaries, most of whom had taken an active part in the struggle for freedom from the British yoke and who knew what domination of a foreign rule meant in the way of deprivation of the basic freedoms and from the point of view of the exploitation of the millions of Indians. The Constitution is an organic document which must grow and it must take stock of the vast socio-economic problems, particularly of improving the lot of the common man consistent with his dignity and unit of the nation.

"The Constitution being supreme, all the organs and bodies owe their existence to it. None can claim superiority over the other and each of them has to function within the four corners of the constitutional provisions. All the functionaries take the oath of allegiance to the Constitution and derive their authority and jurisdiction from its provisions. The Constitution has entrusted to the judicature the task of construing the provisions of the Constitution and of safeguarding the fundamental rights.

Dr. Ambedkar sounded a note a caution on 25" November, 1949- "will history repeat itself? It is this thought which fills me with anxiety. This anxiety is deepened by the realisation of the fact that in addition to our old enemies in the form of caste and creeds, we are going to have many political parties with diverse and opposing political creeds. Will Indians place the country above their creed or will they place the creed above the country? I do not know. But this much is certain that if the parties place creed above the country, our independence will be put in jeopardy a second time..."

Dr. Rajendra Prasad who was the Chairman of the Constituent Assembly, and was the last speakar in that august body, had said : "Whatever the Constitution may or may not provide, the welfare of the country will depend upon the way in which the country is administered. That will depend upon the men who administer it. It is a trite saying that a country can have only the government it deserves".

"Our Constitution has provisions in it which appear to some to be objectionable from one point of view or another. We must admit that the defects are inherent in the situation and the people at large. If the people who are elected are capable and men of character and Integrity, they would be able to make the best even of a defective Constitution. If they are lacking in these, the Constitution cannot help the country. After all, a Constitution like a machine is a lifeless thing. It acquires life because of men who control it and operate it, and India needs today nothing more than a set of honest men who will have the interest of the conuntry before them. There is fissiparous tendency arising out of various elements in our life. We have communal differences, caste differences, language differences, provincial differences and so forth. It requires men of strong character, men of vision, men who will not sacrifice the interest of the country at large, for the sake of smaller groups and areas and who rise above the prejudices which are born of these differences".

JUDICIARY UNDER THE CONSTITUTION

The Constitution of India has assigned a place of distinction to the judiciary. The judiciary is the sentinel of democracy, rule of law and fundamental rights. It has to safeguard the supremacy of the constitution and to serve 'We The People'. While Parliament writes the letter of law, the judiciary tells what the letters mean. Judiciary also enforces the rule of law. Justice Untwalla has compared the judiciary to "a watching tower above all the big structures of the other limbs of the State" from which it keeps a watch like a sentinel on the function of the other limbs of the State as to whether they are working in accordance with the law and the Constitution, the Constitution being supreme. ***(India Vs. Sankalchand Himatlal Sheth, AIR 1977 SC 2328).*** The faithful allegiance of the judiciary, as an institution, to the Constitution has earned it faith of the people and a place of pre-eminence over the other two political branches of Government, viz., the leglislature and the executive. T.R. Andhyarujina, senior advocate and Advocate General of Maharashtra has gone on to say in his booklet on 'Judicial Activism'- "In no other country in the World has the judiciary assumed such ascendancy as in India". He quotes Chief Justice Pathak saying "the range of judicial review recognised in the superior judiciary of India is perhaps the widest of most extensive known in the world of law". He goes on to add that the Indian Supreme Court is today the most powerful of all apex courts in the World. There is no sarcasm in it. It is a statement of fact, if not a under-statement.

Judiciary is a part and parcel of legal profession. Judges are products of the Bar. An independent and enlightened judiciary cannot be thought of without an independent and enlightened Bar. The Law Day is an appropriate occasion for introspection by legal profession. Are we discharging our duties which the Constitution contemplates being discharged by the men of law? Have we come up to the expectations of the founding fathers of the Constitution and the builders of democracy, i.e. India?

LEGAL PROFESSION IN GENERAL

The legal system is acquiring notoriety for its delay. Mahatma Gandhi said "Law has become the luxury of the rich and joy of the gambler". Recently Shri K.R. Narayanan, the President of India, remarked "The Law Courts should not remain a casino where so much depends on the throw of a dice, even if it can't be transformed into a cathedral". Dr. A.S. Anand, the Chief Justice of India, has observed "Without access to unpolluted, expeditious and inexpensive justice the people instead of taking recourse to the law, may be tempted to take the law into their own hands". These observations remind us of our duty and impel us to indulge into introspection for the purpose of finding out wherefrom we had started, where do we stand and what the next millennium has in its store for us. What will be the profile of the legal profession in the times to come.

The law, is a living embodiment of fundamentals of ethics morality and everything that is good. The legal profession is a vast reservoir of wisdom, strength and courage. The lawyers are the torch bearers. Justice Krishna Iyer has said that the vital role of the lawyers depends upon his probity and professional life-style. The central function of the legal profession is to promote the administration of justice. As monopoly to legal profession has been statutorily granted by the nation, it obligates the lawyer to observe scrupulously those norms which make him worthy of confidence of community in him as a vehicle of social justice. "Law is no trade, briefs no merchandise". (***The Bar Council of Maharashtra Vs. M.V. Dabholkar*** AIR 1976 SC 242).

It has been very aptly said, there is no royal road to success in advocacy. No book can teach the art of advocacy. It can be learnt only in the hard school of life. A single quality of head or heart does not make an advocate, it is the entirety of personality which counts. Justice P.B. Mukharji said, the advocate is a totality of diverse capacities whose individual enumeration never explains the finished product. No one makes a good advocate who only reads the law. A great advocate requires to know a good deal of human life and its accessories. Emergencies in court should never find an advocate wanting. A well-equipped mind and a well-informed intellect are great assets for an advocate. A lawyer has a subtle sense of humour. To succeed in profession he is to possess a humour which will make him laugh at his own inadequacies, a humour which can ward off the Judge's anger, a humour which forgives his opponent, and above all a humour when he sees his client making a mess of his facts in the witness box. An advocate will have to learn that no situation is desperate enough and there is always a miracle waiting to happen to rescue him from what otherwise might appear an impossible situation. The miracle may not happen but what is indeed in the advocate is the expectant attitude and the buoyant personality. To achieve such a life Lord Eldon advised the advocate, " to work like a horse and live like a hermit". (See-Introduction to Advocacy And Cross- Examination by Sarkar)

Lord Justice Scarman said experience, character and mature talent are the winning combination of a lawyer.

K.L. Gauba in Battles At The Bar states, the Courts frequently refers to lawyers as their 'officers'. He beautifully brings out the resemblances between the lawyer and the soldier. It is amusing to learn the comparison. He says- the lawyers and the soldiers both are considered mercenaries; they fight for purposes and causes not their own. The success makes them feel happy. Courage, risk and boldness are their traits. A soldier too old to fight is often promoted a General or a Field Marshal; a lawyer getting too old to argue may be elevated a judge. Both should be armed with the latest weapons in their armoury.

With these introductory remarks I come to the subject-the Latest in the Legal Profession wherein I Include the practising lawyers and the Judges both.

LAW IN NEXT MILLENNIUM

Standing at the junction of the two millenniums it would be very interesting to note the imminent changes in the law as profession which are visible perceptible. The winds of change are already blowing. I would like to share my perception of law as a profession in the next millennium under two heads : one, the content of the lawyers' profession and two, the methodology.

CONTENT OF THE LAW AS PROFESSION

The traditional lawyer stands uprooted. There used to be civil and criminal lawyers or the trial and the appellate lawyers. This branding is vanishing. The changes in the delivery of legal services are not to be confined to right of audience merely; they encompass iegal education, the problems posed for legal resolutions and the organisation of Court hearings. There are employed and selfemployed lawyers; there are advocates and non-advocates; we have general practitioners and specialists. There are lawyers engaged in drafting work only, there are consultants and there are assisting advocates confined to table work only. None of these appear in courts. They need not learn the arts of oratory, persuasion, court craft and manners pleasing to Judge which need to be found only in the arguing counsel or the counsel engaged for examining or cross examining witnesses. The mode of practice would determine the learning and training which a legal practitioner should undergo.

The recent decades have witnessed introduction of hitherto unknown controversies being posed by legal brains for judicial resolution and the Judges enlarging their jurisdictional net touching new vistas. The Supreme Court of India could legitimately feel proud of innovating such jurisprudential concepts as have set an example before the adjudicatory fora of the world. Basic structure theory of constitution which has put a few provisions of the Constitution beyond the scope of amendment even by the Parliament- the supreme creator of the law, awarding compensation in exercise of writ jurisdiction to the victims for violation of their fundamental rights, bidding good-bye to the principle of **locus standi** for seeking relief to person or class of persons who cannot plead their own cause, letter petitions and public interest litigations are a few examples.

Environment, Pollution, Re-habilitation of industries, Admissions in Schools and Colleges and so on are some disputes entertained by Courts, decisions wherein attract criticism of judiciary entering into forbidden areas of political and policy decisions. But no

look at the mind-boggling exercises and law suits which the courts are inviting unto themselves and undertaking resolution with pleasure :-

1. Sustainable development- enforcement of rights of a future generation which is yet to come in existence as against the present day generation.
2. Right of a newly born baby to mother's milk.
3. Renting out of the womb by mother and disputes as to paternity, motherhood, guardianship and custody of the baby born or yet to be delivered.
4. Human cloning and intricate questions as to privacy, secrecy, copyright and fraud related therewith.
5. Defining a document, for example, a print out of a message received on computer which is neither written nor typed nor signed nor thumb marked-can it be called a document and the problems of proof related therewith.
6. Intellectual property and software if can be called 'goods'. The human intellect converted into a software if sent across the borders or exchanged for value would it be "goods" in the sense known to the law of the day so as to be liable to customs duty or sales tax.
7. Theft of time- For example I purchased 100 hours' time on internet, A hacker breaks into my system and learns the password so as to utilise for himself the time purchased by me. Does he commit the offence of theft, as defined by the penal law of the day, which speaks of theft of property. Whether time is a property?

Variety of such subjects pose an exciting challenge to the wits and talent of the profession.

THE METHODOLOGY OF LAW

This century has witnessed the traditional jurisdiction of the courts being diverted to other channels. To relieve the courts of evermounting burden of arrears, several tribunals have been constituted. Alternate Dispute Resolution Systems such as arbitration, conciliation and mediation have gained momentum. Lok Adalats and legal literacy movements have earned statutory recognition. These are new fora available to profession. Still the basic methodology remains the same. The parties to the dispute must submit to the jurisdiction, come together for dialogue or debate on dates of hearing and be in physical vicinity of their lawyers. Shortly, this methodology is going to be a matter of yesterday.

Advancements in the field of science and technology have enabled us to contemplate wireless communications and controls, paperless offices and bookless libraries. It is interesting to read a fascinating book- LAW IN A DIGITAL WORLD- written by M. Ethan Katsh, Professor of Legal Studies, University of Massachusetts, Amherst, New York (Published by Oxford University Press) and a writeup of the book by Professor Eugene Volokh, Acting Professor, UCLA Law School (published in Stanford Law Review Vol. 47, pp. 1375-1403). Let me share with you briefly what these professors have to say. The book tells that computer networking will greatly change law and the legal system. Video commuting will make it easier for lawyers to work from home; video will push courts to rely less on in-person appearances; and the new technologies will become valuable tools for occupational "networking".

Computers, and specially comupter networking, will change the law. They would not just affect some particular legal doctrines (copyrightability of computer software, the "community standards" test in obscenity, or what have you). They will change the way lawyers think, the place of lawyers in society, the relationship of lawyers to clients, and many other things we would not normally expect computers to change. Computers and computer networking will foster new inter-personal and institutional relationships and will inevitably change the nature and role of law and legal practise. They will threaten many of the beliefs we have about information and about law.

In 1940s the main function of the computers was computing, i.e., fast and reliable arithmetics. Soon computers took up data processing and storing it, editing it, formatting it, and combining it with other data. In 1970s personal computers brought with them word processing and keeping personal records and also games to play. The recent spurt in computers is communications. Computers are now the easiest, less expensive way to send and receive messages and to store knowledge and wisdom. Almost all the lawyers are aware of SCC-on-Line JT-on-Line, Lexis, Westlaw and similar On-Line services. Upto three months before Mr. Surendra Malik was marketing a floppy disk containing the entire law laid down by the Supreme Court from 1950 upto date with a promise that every year the floppy will be replaced by a new floppy with updated data. Three months before he has floated his own internet networking and the subscriber of SCC-on-Line can himself download the requisite data on his own computer and update the data already available with him. The ever-increasing power of computers has let people build things which they could never have thought of building before, Lawyering is, in a sense, data processing. It is only doubtful today if data processing of the sort that computer can- would prove to be smarter and thereby root out the lawyers. Computers and lawyers are not competitors- they are friends- rather the same. Just see: The lawyer in the library is transferring data from the books into his head and on to his memories. Computers are only changing this process. Lawyer in the office communicates with clients and in the court communicates to the Judge and Jury; computers and video technology can more effectively make such communications. The lawyer at the cocktail party is "networking" with other lawyers and building links to prospective customers; the computer network can be used in a similar and more powerful way.

Look at the uncomparable advantages which the computer provides. The implications which the growth of computer networking is going to have on law practice and day-to-day working of a lawyer are very many :-

1. **Access to legal materials-** Physical location of the source of knowledge has lost its significance. It does not matter where you are or where the information you seek is physically stored. You can have the data come straight onto your laptop or desktop. The case law, statutes, regulations and general articles are all available on-line. They are easier to read and much less expensive.

2. **Access to law by laypeople-** Efforts at large scale marketing of the information available on networking and user-friendly software would reduce the dependence of lay people on lawyers. Non-lawyers would easily find and understand the information they need. The lawyers need not be disheartened. Access to legal material is not necessarily access to legal answers. Resolution of special legal problems would not allow replacement of lawyer's brains by computers.

3. **Reliability of information-** Competition in the field would permit wise lawyers classifying and rating sources of information available on internet by reference to their reliability and credibility. The sources which provide information of questionable reliability are bound to be discarded and eliminated.

4. **Interactive contracts-** Computer networks can make possible a new kind of contract- an "interactive and dynamic" contract- that produces, creates and incorporates information provided by the parties as the contract is performed. This evolving contract reflects " a different set of expectations about how to structure transactions and even how to deal with conflict". New information gathering systems enable computers understanding the changing needs of the parties and encourage contractual modifications.

5. **Lawyers' attitude-** The emergence of "digital lawyers" is writ large. 'Digital lawyers' means- the lawyers who understand the value of information in an environment where new tools for processing and communicating information make adding value to information and using information to develop new relationship the central concern of the economic system. These lawyers will be more sensitive than today's lawyers to the clients' broadeer informational needs. They will be more able and inclined to share information with other lawyers. The focus of competition in profession would shift from 'availability of information' to 'promptness in supplying reliable information'. Video conferencing would enable more lawyers than one electronically meeting to discuss legal questions and finding out the best answers and resolutions. Electronic bulletin known as 'Counsel Connet' set up by publishers of American Lawyer and by LEXIS people and based on the theory that lawyers profit from sharing information, offers a data base of materials such as briefs, forms and summaries of the law, that lawyers created for their own purposes, but are willing to share with other lawyers. Instead of gathering dust in filing cabinets these documents become available for others to use.

6. **Visual Communication : The shift from paper to electronic text-** As more text become easily available on line, lawyers would shift from printing to electronic text. The law library and documents would hardly occupy any space. The information contained in about 25 volumes of SC Digest occupying one full cabinet is now contained in a floppy disc 3 mm thick and occupying hardly 6" space on table. Electronic text is more portable and easier for several people to access at a time. Documents and reading material need not necessarily be read in office or at home; it can be read on airplane or court room. It is much easier to search. Change in reading habit would also change how we write.

7. **Hypertext :** Electronic text permits more flexibility of access than was possible with print. The principle of hypertext is that each electronic document should include not only text but also pointers to other related items. As you read the text and find yourself interested in the related materials, you can click on them with your mouse or tab on key board and instantly retrieve the related documents on your screen. You can then explore yet other materials that are pointed to by the retrieved document. Having done the exploring you can easily return to where you began. Yet another advantage of hypertext is that the user becomes a director or a creator, a driver or a navigator, perhaps even an author and not merely recipient of an author's message.

Hypertext will simplify jumping through treaties, cases, statutes and other legal documents. It will include more accessible cross references and it will make it easier to follow them from one document to another from treatise into a case and from a case into statutes. Lawyers will thus save time that would otherwise be spent pulling volumes.

8. **Video phones :** Video phones have arrived. Computer networks concur distances; video conferencing adds to the effect. Video phones would enable lawyers talk face to face with their colleagues and clients even from a distance. Needless wastage of time on travelling and commuting would be avoided. Working hours of persons more than one supposed to work in consultation, need not colnide and they need also not work together.

   Video phones raises the possibility of video court proceedings. The Judge and the two contesting counsel in a case may sit at three different places and yet the court may go on. For deposing at a trial the witness need not necessarily come to the court; he may continue to be at his home or a fourth place and yet the examination and cross-examination of the witness may proceed.

   Computers would permit electronic filing of petitions and applications in the courts.

The advantage to the legal fraternity would be-improving the quality of life by effective management of time and saving upon wasteful expenditure of time and energy. However, there are certain disadvantages which I must mention :-

1. The magnetic effect of personalities may be lost. The giant size or cross-eyed lawyers may not bully the witnesses and browbeat the Judge. The possibility of winning over a witness- a sure shot device for earning an acquittal- may be lost for good.

2. The big clients cannot be over-billed. Excuses for billing the clients for more time than really consumed would not be available. I am reminded of an anecdote.

   > A Lawyer died and arrived at the pearly gates. There were thousands of people ahead of him waiting in a queue to see St. Peter. To his surprise, St. Peter left his desk at the gate and came down the long line to where the lawyer was, and greeted him warmly. Then St. Peter and one of his assistants took the lawyer by the hands and guided him up to the front of the line, and into a comfortable chair by his desk. The lawyer said, "I don't mind all this attention, but what makes me so special?
   >
   > St. Peter replied, "Well, you are a senior citizen. I've added up all the hours for which you billed your clients, and by my calculation you must be about 193 years old!"

3. Lawyers engaged by public sectors and enjoying upper class travel and stay in five star hotels, over and above the T.A. & D.A. Drawn would be deprived of such luxurious courtesies.

4. Invitations to speak at conferences which titter your belly with the idea of red carpet welcome, welcome speeches full of encomiums, garlands and clappings would no more be available.

5. I feel very sorry to say that lawyers will be deprived of their fundamental right to go on strike at the drop of a hat. You may down your own computer but you will not be able to tamper or stop the functioning of others.

It is interesting to note that major part of the book 'Law in a Digital World' written in the year 1995 was by way of predictions.Nearly all the predictions started coming true within two years of the publication of the book.

In several countries experimental video conference courts have already been held. CAT and SCALE have already found their way into legal systems. CAT stands for- Computers Assisted (or Aided) Transcriptions. SCALE stands for- Statutes and Cases- Automated Legal Enquiry.

IMPACT OF INFORMATION TECHNOLOGY ON COURTS- LORD WOOLF'S REPORT:

Lord Woolf, presently the Lord Chief Justice of England and Wales, has authored an outstanding document dealing with move from legal service to legal process which has come to be known as a book, entitled- 'Access To Justice : Final Report'. Lord Woolf recognises the crucial role that information technology will play in the future of the justice delivery system, both in the short term and in the long term. "It will not only assist in streamlining and improving our existing systems and process; it is also likely, in due course, to be a catalyst for radical changes as well". He makes a striking prediction "I T will be the foundation of the court system in the near future and now is the time that it should be seen to be receiving attention at the highest levels". Just have a glimpse of what Lord Woolf has worked on and suggested. Lawyers case files will dematerialise into collections of digitised documents. The courts case files will mirror this development. Judges' work loads will be shared and allocation of Court rooms, time tabling and listing of cases will be taken over by computers. With the use of I T, documentary and oral evidence will be managed, collected and presented at the hearing without passing through any paper work. He contemplates bail petitions being filed and argued from within the prisons and execution of court orders being secured from kiosks. The most exciting and controversial development over the next 25 years would be dematerialisation of the court room itself. All participants in the hearing need not be present in one physical location. A part of decision making process may even be taken over by computers. 'Access to justice' the book, may appear to some readers a stuff of pure science fiction- or worse, science fantasy but the truth is opposite.

JUSTICE MICHEAL KIRBY- ON FUTURE OF COURTS

Justice Michael Kirby of the High Court of Australia, lately President of the International Commission of Jurists has contributed a beautiful paper titled "The Future of Courts- Do They Have One?" wherein he discusses the breath-taking speed with which the changes are likely to happen. He discusses the notorious inclination of lawyers to adhere to their old ways; the cultural resistance of the legal profession to changes of things considered fundamental; the psychological barrier which must be bridged to raise the awareness of judges and lawyers of the technological engines of change and the imperative necessity to begin the process in law Schools where new generations must learn the discipline of law with their hands on key-boards and their minds engaged with concepts of law and

justice and not just a mass of data. He points out that in the High Court of Australia special leave and interlocutory hearings are already being conducted by using video technolgy. The hearings are generally briefer than that conducted in the physcial presence of the courts. The growing tide of electronic data has had a significant effect in the Australian courts. A project is on in the High Court of Australia which would permit lawyers and members of the public to access on line the public records of the cases subject to resolution of security issues. Of course, he assures, that at least in a quarter century's time there is no possibility of artificial legal intelligence, i.e., the thinking machines replacing the trial or appellate judges.

I will conclude the topic by giving you a bird's eye view of what computers can do for courts/lawyers offices :-

1. Records and information management;
2. Digitising the case files and documents;
3. Administration, budgeting and accounting;
4. Building management and security;
5. Filing and issue of process;
6. Listing;
7. Case managment;
8. Production of orders and judgments;
9. Production of transcripts;
10. Retrieval of legal information and statistics;
11. Litigation support.

The biggest threat to the introduction of information technology in the field of law practice is the inherent conservatism of profession. The legal mind trained over decades and centuries to a typical style of working is allergic to any long leap in the direction of alternate or advanced methodology on account of its desire to preserve its assumed culture and independence. The hiitch with the lawyers is non availability of time and energy required for a switching over. They go by the rule of prudene- a known devil is better than the unknown one. The hurdle with the court houses is tight fisted government budgets and resentment by the staff which apprehends displacement by introduction of new systems. Both are misconceived myths. The information technology is not a wonder; the wonder is that it has taken so long to find its way into the management of courts and legal profession. Justice Homes' often quoted statement is, "Life of the law has not been logic; it has been experience". If that is not true, let the introduction of the information technology in the field of law declare that the life of the law is both- logic and experience.

THANKS

I am extremely grateful to you all for giving me this opportunity of being with you.

●

एकाग्रता

हमारा अपना दर्पण 'जागते रहो' है। हर किसी को उसके सामने खड़े रहना ही पड़ता है। मेले ठेले में विभिन्न प्रकार के अवतल (Concave) एवं उन्नतोदर उत्तल (Convex) Convex o concave उत्तावलक एवं Convex O Convex उत्तलोत्तल दर्पण के स्टाल होते हैं। उन स्टालों में हम हमारे चेहरे देखते हैं, हंसी आती है व मेले का आनंद लेते हैं संतोष होता है, मन हलका होकर प्रसन्न हो जाता है। इसी भावना से इस दर्पण के सामने भी हमने अपने अपने प्रतिबिंब को देख लेना अच्छा होता है। ये दर्पण एक दम सीधा सपाट है; जो है, जैसा है वही दिखेगा। लेकिन अंतर ये है कि मेले के दर्पणों में हम कैसे भी दिखें हम अपने आपको पहचान लेते हैं। इस दर्पण में हम स्वयं को नहीं पहचान पाते या नहीं पहचानना चाहते हैं। इस दर्पण के सामने कोई भी खड़ा हो उसकी छवि भी उसमें भिन्न नहीं होगी। अनासक्त, निर्मोही दर्पण है ये।

आईये। हम आप इस स्टाल में घूमें फिरेंगे एवं देखेंगे हमारे अपने चेहरे। एक माननीय महोदय कहने लगे तुम्हें शिकायत है कि न्यायाधीशगण जिनके लिए यह निःशुल्क पत्रिका है नहीं पढ़ते हैं। मैंने कहा हां पांच साल हो गए हैं शिकायत अभी भी कायम है। वे कहने लगे लेकिन मैं उसे प्रथम से अंतिम पृष्ठ तक पढ़ता हूँ। बता रहे थे कि धारा 506 भाग दो का अपराध राज्य शासन ने जमानतीय घोषित किया यह बात पत्रिका के अंतिम पृष्ठ के अंदर के हिस्से में थी। मैंने स्वीकार भी किया। वे कहने लगे कि हमारे न्यायिक अधिकारीगणों को यह बात इस पत्रिका के न देखने के कारण एवं अन्यत्र भी न पढ़ने व जानने के कारण नहीं मालूम थी। एक अपराधी को धारा 506 भाग दो में आरक्षी केंद्र ने तो आरोपी को छोड़ा ही नहीं अपितु उनके सामने अधीनस्थ न्यायालय के आदेश के विरुद्ध जब प्रकरण आया तो बताना पड़ा कि अपराध जमानतीय है; यदि प्रारंभिक न्यायालय पढ़ लेता तो उनके सामने ऐसा आवेदन पत्र आता ही नहीं।

एक माननीय महोदय का फोन आया, प्रशिक्षण कक्षा से तुरन्त चेंबर में आकर सुना, उन्होंने पूछा क्या हो रहा है, आवाज तो पहचान ही लेते हैं, कहा सर कक्षा में पढ़ा रहा हूं। अभी दस मिनिट में आता हूं। उनका कहना था चिन्ता मत करो मैं पांच बजे तक तो हूँ ही। कक्षा समाप्त होने के बाद उपर गया। उन्होंने एक फाइल पढ़ने को दी। चार्ज पढ़ा धारा 307 भा.द.वि. का चार्ज था। चार्ज सामान्य रूप से ठीक था। मैंने कहा चार्ज अच्छे से लगा है। उन्होंने कहा निर्णय पढ़ो। सोचा सबसे पहले क्रियाशील भाग देखूं। देखा। देखने के बाद इच्छा हुई कि साक्ष्य का विश्लेषणादि भी देखूं, देखा। मेरी ओर दृष्टिपात करके श्रीमान पूछने लगे कैसा है? मैंने कहा क्या कहने है, धारा 322 द.प्र.स. का अध्ययन अच्छा है। वे पूछने लगे धारा 322 क्या होती है बताया कि सिद्ध अपराध आरोपित अपराध में समाविष्ट हो तो क्या प्रक्रिया होगी। उन्होंने कहा यह शास्त्रीय भाषा वे समझे नहीं तो मैंने स्पष्ट किया कि धारा 307 का आरोप लगाया गया है व इस प्रकरण में धारा 304 भा.द.वि. का अपराध सिद्ध अपराध आरोपित अपराध में समाविष्ट है। उनकी मुस्कान मैं समझ रहा था। मैंने सहज भाव से कहा कि धारा 304 संख्यात्मक रूप से 307 से छोटी है अतः 307 भा.द.वि. में धारा 304 का अपराध समाविष्ट है जैसे बड़े बर्तन में छोटा बर्तन समा जाता है। पूछा ये लोग ऐसा क्यों करते हैं। इसका उत्तर मेरे पास नहीं था। सोचा आप सबसे इस विषय पर आमुख हुआ जाय कि हत्या का प्रयत्न किया गया, धारा 307 का आरोप लगाया गया लेकिन वह आरोप सिद्ध नहीं हुआ अतः धारा 304

भा.द.वि. के किसी उपखंड में दंडित किया गया क्योंकि वह अपराध मानव वध का था लेकिन हत्या फारित करने का आशय या ज्ञान नहीं था। आहत मरा नहीं लेकिन आरोपी को उसके मारने की सजा हो गई। आरोपी ने सोचा होगा कि आहत को मार देते तो अच्छा होता। आहत साक्षी के रूप में नहीं आता एवं वह छूट जाता। वह दुख मना रहा होगा। इस कृत्य को धारा 308 भा.द.वि. के तहत अपराध होना मानने के लिए यह आवश्यक था कि आरोपी का यह कृत्य ऐसा हो कि आहत की मृत्यु हो भी गई होती तो वह मानव वध हत्या के कोटि में न होता। न्याय दृष्टांत है ***ओमप्रकाश का प्रकरण 1982 सी.आर. एल.जे. पृष्ठ 751***। उसमें कहा है कि "Where the accused was dead drunk and infact had gone so deep into drinking that he became incapable of forming the requisite intent to kill under S. 300, I.P.C., and in that State of mind caused a serious abdominal injury to one of his co-sailors by stabbing, it was held that though he had no intention to kill, yet knowledge that his act might lead to death could be attributed to him even in a case of such deep voluntary drunkenness u/s 86, I.P.C., and as such he could be held liable for an attempt to cause culpable homicide not amounting to murder U/s. 308 and not U/s 307, I.P.C."

उस प्रकरण के तथ्य मुझे मालूम नहीं हैं अतः इस संबंध में मैं कोई भी भाष्य नहीं कर सकता हूं तथा प्रकरण उच्च न्यायालय में लंबित था; अब क्या हुआ पता नहीं।

धारा 428 दं.प्र.सं. का विवरण तैयार करना आवश्यक है। चाहे प्रकरण कमिट करना हो तब भी, आरोपी को उन्मुक्त करना हो या छोड़ना हो या सजा देना हो तब भी। कोई विकल्प नहीं है। इस विषय पर एक लेख भी **1999 ज्योति अक्टूबर पृष्ठ 375** पर लिखा है व इसी विषय पर एक दृष्टांत **उसी पत्रिका में पृष्ठ 373** पर भी स्टार फरमामेंट के अंतर्गत है। **फरवरी 2001 की पत्रिका में भी पृष्ठ 22** पर एक लेख है एक बार एक माननीय महोदय ने न्यायालय अवमानना के विषय में कार्यवाही की या करने जा रहे थे। हर तरीके से मैंने अपनी ओर से कहा कि भूलें हो रही हैं सुधारने हेतु प्रयत्न करेंगे उन्हें क्षमा कर दिया जावे ऐसा निवेदन किया था। लेकिन मुझे आश्चर्य तब हुआ जब वरिष्ठ श्रेणी के व्यवहार न्यायाधीश के विषय में ज्ञात हुआ कि वह कह रहे थे कि हमने ऐसा नहीं भी किया तो हमारा क्या बिगड़ जाएगा। संभवता ऐसे लोगों ने ध्यान रखना चाहिए कि जहर की परीक्षा नहीं की जाती है। अभी नवनियुक्त व्यवहार न्यायाधीशों से भूल हो रही हैं क्योंकि उनके नैमित्यिक कर्म के रूप में वह बात नहीं आई है व अभी उन्हें अनुभव के आधार से रमना है लेकिन उनका क्या जो नौकरी में तो रम गए हैं लेकिन कर्म रूप से नहीं।

•

THINKING WELL IS WISE
PLANNING WELL IS WISER
BUT DOING WELL IS THE
WISEST AND BEST OF ALL.

•

यज्ञ वही श्रेष्ठ है,
जिसका अन्त ज्ञान में हो।

पायलेट प्रोजेक्ट - एक यज्ञ

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

प्राक्कथन :

सुना है कि जुलाई 2001 से जबलपुर, ग्वालियर, इन्दौर एवं भोपाल के जिला न्यायालयों में पायलेट प्रोजेक्ट लागू होगा। माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्रीमान यू.एल. भट्ट जब वे 1993 से 1995 के बीच म.प्र. उच्च न्यायालय में थे पायलेट प्रोजेक्ट का अभिनव कार्य प्रारंभ किया था जो सफलतार्पूक आगे बढ़ रहा है। समय के साथ पर्याप्त रूप से मूलभूत सुविधाएं भी बढ़ गई हैं अतः उसकी सफलता में लेशमात्र भी शंका नहीं होती है। सर्वोच्च न्यायालय ने दो साल पूर्व ही 10 साल से पुराने प्रकरण निराकृत करने हेतु जोर दिया था, उसके पूर्व 'कॉमन कॉज' एवं 'राजदेव शर्मा' प्रकरणों के माध्यम से भी पुराने प्रकरण निराकृत करने का आदेश था। इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत भी शीघ्र गति से सुनवाई एवं न्याय सिद्धान्त का प्रतिपादन भी पिछले तीन दशक से अधिक समय से होता रहा है। 1993-94 में ही इसी श्रृंखला में यह अभिनव एवं सकारात्मक परिणामोत्पादक आयोजन मध्यप्रदेश में शुरू हुआ है। यह एक दूरगामी परिणाम मूलक कदम सिद्ध हुआ है। यद्यपि विवाद रहित जिले की कल्पना वर्तमान में एक कल्पना हो लेकिन न्यायपालिका के समानान्तर मनी एण्ड मसल पॉवर (धन एवं बाहुबल) की कल्पना से बचा जा सकेगा। इस दृष्टिकोण से भी पायलेट प्रोजेक्ट की उपादेयता समझी जा सकती है।

पायलेट प्रोजेक्ट (अग्रगामी योजना) यह शब्द प्रयोग हिन्दी भाषा में तथा बोलचाल की भाषा में भी आ गया है। शाब्दिक अर्थ है done as an experiment especially on a small scale. It is tested before it is introduced on a large scale. चूंकि यह कार्यक्रम सफलतापूर्वक निर्वाहित होता रहा है इसलिए अब बड़े पैमाने पर मध्यप्रदेश के बड़े नगरों में प्रारंभ हो रहा है। प्रारंभिक सफलता के आंकड़े **ज्योति जनरल 1997 अक्टूबर पृष्ठ 47** पर प्रकाशित हुए हैं उसका अवलोकन करें। अब भी यह प्रोजेक्ट यद्यपि पायलेट प्रोजेक्ट के नाम से ही जाना जाता रहा है लेकिन व्यवहारिक धरातल पर यह ट्राइड एण्ड टेस्टेड प्रोजेक्ट हो गया है।

प्रोजेक्ट (आयोजना) शब्द का अर्थ है a piece of work, that is organised carefully and designed to achieve a particular aim. इस प्रकार पायलेट प्रोजेक्ट एक अग्रगामी योजना है जिसे हमें सावधानी पूर्वक आगे बढ़ाकर निर्धारित लक्ष्य निश्चित रूप से प्राप्त करना है। जब हमें निर्धारित लक्ष्य निश्चित रूप से प्राप्त करना होता है तो सहज भाव से मुंह से शब्द निकल आता है मिशनरी स्पिरिट। अर्थात ऐसे कार्य को हम जीवन लक्ष्य के रूप में मान लेते हैं। अंग्रेजी में इस प्रकार बताया है– You have a mission - you mean that you have a strong commitment and sense of duty to do or achieve something. Missionary zeal - If you refer to someone's enthusiasm for an activity or belief as missionery zeal, you are emphasizing that they are very enthusiastic about it. इस प्रकार यह कार्य आपका जीवन लक्ष्य है, उत्साह उमंग से तथा वचनबद्धता से, समर्पण भाव से उसे करना है यह ध्यान रखना है। जहां कोई कार्य जीवन लक्ष्य व निष्ठा से करना हो वहां निश्चित ही उस कार्य के प्रति आस्था भाव उत्पन्न हो जाता है। आस्था भाव से किये जाने वाला कार्य उपेक्षा भाव से अथवा नैमित्यिक भाव से नहीं किया जाता है यह उसकी विशेषता है।

सामान्य :

पायलेट प्रोजेक्ट के अंतर्गत काफी कुछ सुविधाएं उपलब्ध होती हैं। सुनते हैं 25 प्रतिशत वेतन अतिरिक्त रूप से प्राप्त होता है। टाइप मशीनें, स्टेशनरी, अतिरिक्त स्टॉफ भी उपलब्ध हो जाता है। यह ऐसा अवसर होता है जैसे शादी–ब्याह के आयोजन में आपको अतिरिक्त स्वयंसेवकों की उपलब्धि सुलभ हो जाती है। प्रयत्न यह हो कि जो भी स्टॉफ आपको मिले उसमें उच्च कोटि के आशुलिपिक हिन्दी अंग्रेजी के हों। ऐसे लोग आज कल बड़े पैमाने पर उपलब्ध हैं। उनकी कमी नहीं है। टाइपिस्ट भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो तीव्र गति से सीधे डिक्टेशन के आधार से टाइप करते हैं व कुछ ऐसे जो की बोर्ड पर अक्षरों को तलाशकर शब्द संयोजन करते हैं। अतः पायलेट प्रोजेक्ट हेतु ग्रास रूट लेव्हल पर आपको उत्कृष्ट कोटि के टाइपिस्ट हों तो काम का बहुत बड़ा भार आसानी से निर्वाह किया जा सकेगा। स्टेनोग्राफरों का न्यायाधीशों के निवास पर कार्य करने हेतु जाना अनिवार्य शर्त हो। जिला न्यायाधीशों को यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि न्यायिक अधिकारीगणों के लिए आवश्यक स्टेशनरी, फॉर्मस् आदि सुगमता से उपलब्ध कराये जा सकें। इसके लिए आवश्यक हो तो अभी भी न्यायिक अधिकारीगणों की बैठक लेकर विचार विमर्श कर लें तथा आवश्यकतानुसार मांग पत्र भेज दें या छपाई करवाने हेतु आवश्यक अनुशंसा करवा लें।

समयबद्धता :

पायलेट प्रोजेक्ट हेतु समयबद्धता बहुत बड़ी बात है। ऐसा नहीं हो कि आप की टेंपो ट्रेक्स जैसे–तैसे 11 बजे तक न्यायालय में पहुंच पाए। वैसे भी सामान्य रूप से भी न्यायालय में कर्त्तव्य पर पहुंचने का समय तो 10.30 है ही अतः ऐसे आयोजना में प्रयत्न यह हो कि हम समय पूर्व अवश्य पहुंचें। ऐसा होने से कार्य करने का वातावरण बनता है व अपने आपको भीड़ से अलग सिद्ध किया जा सकता है (बशर्ते ऐसी इच्छा हो)। समयबद्धता का दूसरा लक्ष्य पंचकर्म (वाद–प्रश्न, चार्ज, आरोपी परीक्षण, निर्णय, आदेश लेखन) में विलंब न होना व यह निर्धार कर लेना कि ऐसा कार्य निष्पादित करने में हम तिथि नहीं बढ़ाएंगे व जिस दिन के लिए जो कार्य निर्धारित किया है उस रोज वह कार्य होकर ही रहेगा। ध्यान रखना ऐसे कार्य न्यायाधीश को स्वयं ही करना होते हैं। इस सम्बन्ध में इसी मास की पत्रिका में पृथक से दो लेख हैं तथा एक लेख पूर्व पत्रिका में भी प्रकाशित हुआ है। उन्हें पढ़ लेने से भी इस प्रोजेक्ट की सफलता में सुगमता संभव हो सकती है।

समयबद्धता का एक अन्य पहलू है न्यूनतम अवकाश लेना। तुच्छ कारणों से अथवा बार–बार अपने पैतृक गृहनगर जाने के उद्देश्य से अवकाश लेना आदि ऐसे कारण आयोजनाओं को क्षति पहुंचा सकते हैं। कुछ जिलों में पदस्थ न्यायिक अधिकारीगणों के पैतृक गृह नगर काफी पास होते हैं अतः वे अक्सर सार्वजनिक अवकाश के दिनों में मुख्यालय से बाहर रहते हैं। कुछ लोग अर्जेन्ट ड्यूटी न करना पड़े इस लिए भी अग्रिम रूप से मुख्यालय छोड़ने की अनुमति लेकर मुख्यालय पर ही रहते हैं। ये लक्षण मिशनरी स्पिरिट के नहीं हो सकते।

समय पूर्व न्यायालय में पहुंचने के लिए संगठित प्रयत्न करना होगा। एक ही पदस्थापना पर पदस्थ न्यायाधीशगणों ने निर्धार करना होगा कि समय पूर्व पहुंचकर कार्य करेंगे। टी–क्लब में भी बैठने की समय सीमा को कठोरता से पालन करना समय की बचत होगी। ध्यान रहे कि न्यायालय में समय पूर्व पहुंचने से व समय का उचित उपयोग करने से आपके कार्य करने के घंटे अनजाने में ज्यादा हो जाते हैं। आधा घंटा पहले कोर्ट में पहुंचकर कार्य करने का अर्थ है आपने एक घंटे के समय का अतिरिक्त लाभ ले लिया। बोनस में समय उन्हें मिलता है जो समय का अधिकतम उपयोग करते हैं।

न्यायालयीन कार्य :

ये कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। लगन से कार्य करना करना हमारा कर्त्तव्य है। दीर्घसूत्रता (प्रोक्रेस्टिनेशन) में काम भी नहीं होता है व समय की बर्बादी होती है। अतः फाइलों का अध्ययन अग्रिम रूप से करना होगा। ऐसा करने से प्रकरण की विषय वस्तु ज्ञात होगी तथा प्रकरण में कार्यवाही करने में सुविधा होगी। अभिकथनों के आधार से गुणात्मक रूप से वाद–प्रश्न निर्मित करना भी समय की बचत करेगा। साक्ष्य निर्धारण हेतु 15 दिन से अधिक का समय नहीं देना होता है। वाद प्रश्नों का एवं चार्ज का शीघ्रताशीघ्र निमार्ण करना भी प्रकरणों को अधिक गति देने का आधार होता है।

प्रक्रिया सम्बन्धी विधि की उपेक्षा पायलेट प्रोजेक्ट के नाम से नहीं हो सकती। उसकी उपेक्षा घातक सिद्ध होगी। इस सम्बन्ध में पृथक से लेख इसी पत्रिका में लिखा गया है। ऐसी आदेशिका लिखना अनुचित होगा कि पायलेट प्रोजेक्ट का कार्य इस जिले में चल रहा है अतः और अधिक समय देना उचित नहीं। यहां केवल इतना बताना पर्याप्त है कि प्रक्रिया विधि का ज्ञान यदि भरपूर है तो हम हमारे विविध आदेश जो हमें प्रकरण के लंबित होने के कालावधि में अन्तरिम रूप से पारित करना होते हैं वे सोच समझ कर अथांग रूप से विचार विमर्श कर के पारित हों ताकि उन आदेशों के विरुद्ध रिविजन/ अपील हो भी तो तुरन्त निराकृत होकर आने की संभावना है। अनावश्यक रूप से उत्तर एवं बहस हेतु समय बिलकुल न दें तथा यथा संभव उसी दिन आवेदन पत्र का निराकरण हो। जिला न्यायालय स्तर तक का विचार किया जावे तो यह भी कहा जा सकता है कि अपील/रिवीजन न्यायालय ने भी सांगोपांग रूप से विचार कर त्वरित रूप से विविध अपीलें व रिवीजन निराकृत करना चाहिये। ऐसा न हो कि कुछ न कुछ आधार बनाकर प्रकरण रिमांड पर दिया जावे। अन्यथा प्रकरणों का अंतिम निराकरण नहीं होगा व फाईलें जिला न्यायालय में ही वरिष्ठ–कनिष्ठ न्यायालयों के बीच घूमती रहेंगी। जिला न्यायालय स्तर पर प्रथम अपील/रिविजन में उन्हें तथ्य एवं विधि सम्बन्धि पूर्ण अधिकार है। गुणात्मक यूनिट्स प्राप्त करना सर्वश्रेष्ठ है न कि संख्यात्मक।

अपराधिक प्रकरण जो क्लेम ट्रिब्यूनल में बुलाये जाते हैं उन्हें वहां रोककर रखने की आवश्यकता नहीं है क्लेम केस में तिथि बढ़ते ही फाईल को इस निर्देश के साथ विचारण न्यायालय को लौटाई जावे तथा फाईल की आवश्यकता हो तो यह भी निर्देश हो कि निर्धारित तिथि पर मात्र फाईल भेजी जावे। कहने की आवश्यकता यह कि रिमांड केवल अनिवार्य स्थिति में हो तथा विचारण न्यायालय की फाईल न रुकी रहे।

निर्वाह कार्य :

प्रकरण की प्रगति में समन्स का निर्वाह महत्वपूर्ण है। यह सामान्य चर्चा का विषय होता है कि आदेशिका वाहक इस कार्य को बड़ी आसानी से टालते हैं, गलत रिपोर्ट देते हैं अथवा उनकी ड्यूटी इस कार्य से हटकर भृत्य के रूप में ली जाती है। सेल अमीन का कर्त्तव्य ही यह होता है कि वह समय–समय पर चेक करे कि निर्वाहन कार्य ठीक से हो रहा है या नहीं। लेकिन इस कार्य का निष्पादन बिल्कुल नहीं होता है यह बात भी चर्चा का विषय होता है। आदेशिका वाहकों को आदेश 05 के निर्वाहन संबंधी प्रावधानों को एक स्थान पर बैठाकर ठीक से समझा देवें व विशेषकर आ. 5 नि. 17 व्य. प्र.स. के प्रावधान तो निश्चित रूप से समझा दें।

पुलिस एजेन्सी के माध्यम से निर्वाह होने वाले समन्स ठीक से निर्वाहित हों इस विषय पर समयपूर्व ही मॉनिटरिंग सेल की बैठक में सुनिश्चित रूप से विचार हो। एक जनरल स्टेटमेंट (साधारण कथन) कि समन्स/वारण्ट निर्वाहित नहीं होते कहना पर्याप्त नहीं है। विशिष्ट उदाहरण प्रत्येक न्यायाधीश द्वारा नोट कर रखना होंगे व बताना होंगे। अपराधिक प्रकरणों के समन्स भी आदेशिका वाहकों के माध्यम से निर्वाहित करने का राज्य शासन का नोटिफिकेशन है जो **ज्योति जनरल में अगस्त 1999 पृष्ठ 331** पर देख लें।

प्शासनिक नियंत्रण :

अपने अपने न्यायालय के कर्मचारियों पर एवं जिला न्यायाधीश ने समग्र रूप से सम्पूर्ण कर्मचारी वृंद पर नियंत्रण रखना चाहिये। उनकी समयबद्धता कार्य निष्पादन की प्रवृत्ति आदि पर ध्यान देना होगा। मार्गदर्शित करना होगा एवं कठोरता भी अपनाना होगी।

अधिवक्ता एवं पक्षकार गण :

अधिवक्तागणों को आपके व्यवहार, आपकी योग्यता से यह अनुभव करवा देना पर्याप्त होगा कि प्रकरणों में तिथि मांगने पर आशीर्वचन के रूप में तुरंत नहीं मिलना है एवं कथित रूप से अन्य न्यायालयों में व्यस्तता एवं अस्वस्थता के बहाने नहीं चलेंगे। उसी प्रकार पक्षकारों के लिए भी यह अनुभव करा देना उचित होगा कि उन्हें अपनी साक्ष्य, आवश्यक विलेख आदि यथासमय उपलब्ध कराना होंगे। प्रोसेस में सही एवं पूर्ण पते देना होंगे। आप यदि चाहें तो विशेष रूप से व्यक्तिगत उपस्थिति हेतु पाबंद कर सकते हैं। उनसे धारा 294 दं.प्र. सं. एवं आ. 11 एवं 12 के प्रावधानों का पालन करवाने को कहें व करवालें। टालमटोल को कठोरता से लेकिन विनम्रता से नियंत्रित करें। (An Iron rod in velvet gloves.)

विधि पुस्तकें :

बोर्ड पर हमेशा फिस्कल लॉज, साक्ष्य अधिनियम, भा.दं.वि., दं.प्र.स., व्य.प्र.स. की पुस्तकें अवश्य रूप से रखें ताकि त्वरित संदर्भ मिल सके। विविध अपराध संहिता, डायजेस्ट जैसे त्वरित संदर्भ ग्रन्थ भी हों। जिला न्यायालय के लायब्रेरी से जारी करवा लेना चाहिये। इस विषय पर पृथक से एक अन्य लेखन प्रक्रिया विधि–पालन में उपेक्षा न हो लिखा है लिखा है उसे भी पढ़ लें।

मुद्देमाल :

साक्ष्य के समय जो मुद्दे माल आवश्यक हो उसे बुलाने हेतु अग्रिम रूप से मांग पत्र निश्चित रूप से भेज दें।

प्रशासनिक कार्य :-

न्यायिक कार्य से प्रकरणों का निराकरण तो संभव है लेकिन साथ ही साथ न्यायिक कार्य की गाड़ी सुचारू रूप से चले इसलिए प्रशासनिक कार्यों की ओर भी गंभीरता से एवं व्यक्तिगत रूप से निरीक्षण नियंत्रण रखना होगा। सामान्य रूप से देखा जाता है कि **प्रकरणों का पंजीयन** ठीक से नहीं होता है। ए.बी. या स्मॉल कॉज प्रकरणों का पंजीयन विस्तृत रूप से होना ही चाहिए। यदि प्रकरण में दस वादी व दस प्रतिवादी है तो उनके सम्पूर्ण नाम पते आदि जैसा दावे में लिखा है प्रविष्ट हो। वाद की विषय वस्तु में संपत्ति का विवरण हो स्थान का खुलासा हो, क्या सहायता चाही गई है उसका स्पष्ट खुलासा हो। परिणाम स्पष्ट रूप से लिखा हो। ऐसा न लिखें कि दावा खारिज/दावा डिक्री किया गया। इसलिए न्यायाधीशों का कर्तव्य है कि निर्णय का क्रियाशील भाग सुस्पष्ट सुगम्य हो। इस संबंध में एक लेख **ज्योति 1998 के अगस्त अंक में पृष्ठ 21 एवं 1999 ज्योति पृष्ठ 486** पर दिया है देख लें।

प्रकरणों में पक्षकार **प्रमाणित प्रतिलिपियों के लिए** समय–समय पर **आवेदन पत्र देते** हैं। लेकिन प्रतिलिपि प्रभाग को लंबित फाईलें अथवा रेकॉर्ड रूप से फाईलें नहीं भेजी जाती हैं। क्यों नहीं भेजी जाती इसके कई कारण हो सकते हैं। लेकिन किसी भी कारण ऐसा न हो कि फाईल प्रतिलिपि विभाग में न पहुंचे। उसे तो भेजना ही है और अविलंब भेजना है। यदि यह अपेक्षा हो कि पक्षकार–अधिवक्ता गण इसके लिए तगाज़ा या ध्यान लाने

के लिए प्रयत्न करेंगे तो निश्चित समझे अनुचित होगा। प्रकरण प्रतिलिपि विभाग को अवश्य ही भेजा जाना है। ऐसा करने से पक्षकारों को प्रतिलिपियाँ प्राप्त कर आवश्यक कार्यवाही करने में सुगमता होगी। नकलें ठीक वैसी ही हो जैसा मूल विलेख/निर्णय, आदेश आदि है। दस–दस नाम पक्षकारों के है तो उन्हें लिखना ही है कोई विकल्प नहीं है।

निराकृत प्रकरणों के रेकॉर्ड रूम भेजना होता है। नियम एवं आदेश इस संबंध में निर्देश देते हैं उनका पालन आवश्यक हैं पालन करें। ऐसा न करने से कई शंकाओं एवं कुशंकाओं को हवा दी जा सकती है। समय पर रेकॉर्ड, रेकॉर्ड रूम भेजने से सभी अनुशांगिक बातें सुगमता से गतिशील हो जाती हैं।

अभिकथन आवेदन पत्रों के लिए जो **कागज उपयोग में लाया जाता है** उसकी गुणवत्ता व रंग कैसा हो यह सिविल कोर्ट नियम एवं आदेश के नियम 10 में दिया है अतः ऐसा न हो कि कोई न्यायालय हरे रंग के कागज पर कार्यवाही की अपेक्षा करें तो कोई सफेद पर। हां कागज पतला नहीं होगा, राइस पेपर नहीं होगा। कागज की गुणवत्ता उत्तम हो यह ध्यान रहे।

प्रत्येक प्रभार के लिए वरिष्ठ एवं कनिष्ठ अधिकारी नियुक्त होते हैं उनकी सक्रियता एवं सामंजस्य मात्र इन सब बातों को व्यवस्थित कर सकती है एवं कार्य दक्षता बढ़ने में सहायक होगी।

समापन :

मुख्य–मुख्य बिंदु जो पायलेट प्रोजक्ट हेतु आवश्यक हैं। बताए हैं। एक अच्छी बात ये है कि यह यज्ञ स्वरूप कार्य है। यज्ञ का एक अर्थ उपासना है। अर्थात worship, adoration, homage, sercive, devotion, veneration। हर एक को यह कार्य करना है। व्यक्तिगत, सफलता सामूहिक सफलता में परिवर्तित कर कार्य करने का लक्ष्य हो। यह कार्य आपका अपना कार्य होगा। केवल यही ऐसा कार्य है जिसमें कोई उद्घाटन, भाषण, स्वागत सत्कार एवं औपचारिक गतिविधियां नहीं होंगी। आप ही श्रोता आप ही वक्ता, कर्ता–धर्ता आप ही, श्रेय–अश्रेय आप ही से, सफल–असफल भी आप ही। सब कुछ वही है जो हम आप रोजाना करते हैं। विशेषता केवल यही है कि यह कार्य हमें विशेष रूप से मिशन भावना से करना ही है। थोड़ा सा समर्पण एवं थोड़ी सी एकाग्रता कर्म भावना के साथ मिला दो हम सबका आयोजन का प्रयोजन सफल हो जाएगा। विशेष वेतन (यदि कोई देय हो) जो आपको प्राप्त होगा जिसे आप जब जेब में रखेंगे तब प्रश्न पूछ लेना कि क्या मैं इस विशेष वेतन का कर्म करने के कारण हक़दार हूँ?

'ज्योति' की ओर से उन समस्त न्यायाधीश बंधुओं को सफलता हेतु शुभकामनाएं जिन्हें यह कार्य करने का अवसर मिलेगा। ऐसे भाग्यशाली न्यायाधीशों को एक लाभ यह भी मिलेगा कि वे गुणात्मक रूप से स्वयं में भी परिवर्तन ला सकेंगे। तथाऽस्तु!

●

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोयनम्।

अर्थात

उन्नत होना तथा आगे बढ़ना प्रत्येक जीवन का लक्षण है।

प्रक्रिया विधि – पालन में उपेक्षा न हो

(व्यवहार विधि)

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

प्रस्तावना :

काम का अंबार बढ़ता जा रहा है। इसके लिए कौन कितना दोषी है, जिम्मेदार है यह विषय यहां चर्चा के लिए नहीं है। हम अपने क्षेत्र में किस सीमा तक इसे स्तरीय रूप से कम कर सकते हैं यह महत्वपूर्ण है। प्रक्रिया संबंधी विधि के पालन में उपेक्षा के कारण प्रकरणों के निराकरण में निश्चित रूप से देरी होती है व काम का अंबार दिन व दिन बढ़ता ही जाता है। हमारी सबसे बड़ी कमी है, न पढ़ना। पढ़ने से अर्थ Study से भी होता है। अर्थात The activity of learning or gaining knowledge, detailed consideration or investigation of a subject. लेकिन यदि सीमित अर्थ भी इसका माने तो वह होगा बांचना, वाचन करना। प्रशिक्षण कक्षाओं में इस विषय पर बताया जाता रहा है एवं सुखद अनुभव प्राप्त करने की आशा अभी भी है। कहकर थक गए लेकिन असर नहीं होता है।

प्रक्रिया संबंधी जो भी नियम है वे सारभूत रूप से कठोरता से पालन किए जाना चाहिए उसमें कोई विकल्प नहीं होता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो मुकदमेबाजी को अनावश्यक रूप से बढ़ावा मिलता है।

अभिकथनों का परीक्षण :

जब दावा/अपील अभिग्राही (रिसीविंग) प्रभाग से प्राप्त होती है तो उसका परीक्षण ठीक से होना चाहिए। व्यवहार न्यायालय नियम 38–39–40 को पढ़ लेना चाहिए। ये ज्ञात होना चाहिए कि दावा हमेशा आदेश 6 एवं 7 व्य.प्र.स. के प्रावधानों के अनुरूप लिखा जाना चाहिए एवं उत्तरवाद आदेश 6 एवं 8 के प्रावधानों के अनुसार। ऐसा करना चाहिए एवं अवश्य होना भी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता है तो भविष्य में अनावश्यक रूप से प्रक्रिया संबंधी भूलें होती हैं। दावे के साथ आ. 7 नि. 3 व्य.प्र.स. के अनुसार मानचित्र, आ. 7 नि. 6 के अनुसार मर्यादा संबंधी अभिकथन भी स्पष्टतः होना चाहिए। दावा किस प्रकार की पंजी में पंजीकृत होगा यह नियम एवं आदेश के नियम 369 में बताया है। कृपया उसका एक बार तो दीदार कर लें। पंजी में प्रविष्टियां पूर्ण व विस्तार से हो। आप समय–समय पर चेक करें। रीडर के भरोसे न छोड़ें। ये रेकार्ड 12 वर्ष, 20 वर्ष एवं अनंत समय तक सुरक्षित रखने का निर्देश है। इसी से उसका महत्व समझ सकते हैं। कृपया **ज्योति दिसंबर 2000 में पृष्ठ 675** पर प्रकाशित लेख वादों का संस्थित किया जाना अवश्य पढ़ लें।

उत्तरवाद आदेश 6 एवं आदेश 8 के अनुरूप होना चाहिए। उसे भी ठीक से देखें। इन प्रावधानों का पठन करना लाभदायक होगा।

दावे व उत्तरवाद के साथ विलेख, विलेखों की सूची, उन विलेखों की सूची जो पक्षकार के आधिपत्य या नियंत्रण में नहीं है लेकिन पक्षकार उन पर विश्वास करते हैं (लिस्ट ऑफ रिलायन्स) प्रस्तुत होती है। पता फार्म वादी एवं प्रतिवादी का प्रस्तुत होना चाहिए। सत्यापन ठीक से हुआ है या नहीं यह देखें। सत्यापन में दोष हो तो उन्हें दूर करवाना चाहिए।

आ. 41 नियम 1 व्य.प्र.स. के अनुसार अपील मेमो लिखा जाना चाहिए। अपील के साथ निर्णय एवं डिक्री की प्रमाणित प्रतिलिपि होना अनिवार्य है। यदि नहीं है तो समाधानकारक आवेदन पत्र अनुमति चाहते प्रस्तुत हो।

अपील मर्यादा बाध्य है तो आ. 41 नि. 3 ए के प्रावधानों के अनुसार शपथ पत्र एवं धारा 5 मर्यादा अधिनियम का आवेदन पत्र हो। यह न्यूनतम अनिवार्यता है। अविवादित रूप से अपील मर्यादा बाध्य है तो अपील को सुनवाई हेतु पंजीकृत न कर केवल सांख्यिकीय कार्यों के लिए मात्र पंजीकृत करें। पंजीयन का उद्देश्य केवल यह होगा कि भविष्य में ऐसे अपील का संदर्भ आवश्यक हो तो उल्लेखित अपील क्रमांक से उपलब्ध होगा। आदेशिका में लिखे कि यह अपील केवल सांख्यिकीय कार्यों के लिए पंजीकृत की जा रही है। विकल्प यह भी हो सकता है कि अपील को पंजीकृत करने के बजाय धारा 5 का आवेदन पत्र विविध सांपत्तिक आवेदन पत्र के रूप में मात्र पंजीकृत हो व अपील उसी के साथ संलग्न मात्र हो। जैसा भी आप करें विपक्ष को केवल धारा 5 मर्यादा अधिनियम के आवेदन पत्र के निराकरण की सूचना मात्र देना अपील नहीं, क्योंकि अपील ग्राह्य होने के पूर्व ग्राह्यता संबंधी तर्क सुनकर ही उसे ग्राह्य किया जा सकता है। जो अपील अवधि बाध्य है उसे क्या सुनवाई के लिए ग्राह्य करेंगे? कृपया देखें आ. 41 नि 3 ए (2) (3) एवं आ. 41 नि 11 एवं 13.1। यदि आप देरी माफ नहीं करना चाहते हैं तो केवल यह लिखें कि धारा 5 मर्यादा अधिनियम का आवेदन पत्र निरस्त होता है। आगे ऐसा न लिखें कि परिणाम स्वरूप अपील मर्यादा बाह्य होने से अपील खारिज की जाती है। ऐसा लिखने मात्र से ऐसा माना जा सकेगा कि अपील को गुणदोष पर मर्यादा के बिंदु पर निराकृत किया व परिणाम ये होगा कि पक्षकार को द्वितीय अपील का आधार हो जाएगा। विधि का सारवान प्रश्न ही अवधि विषयक हो जाएगा। अतः ऐसे प्रकरणों में आदेश की शब्दावली का चयन विद्वतापूर्ण हो। कृपया निम्न दृष्टांत अवश्य देख लें व तब ही आप जैसा चाहें अपना निष्कर्ष निकालें।

(1) ***1996 जे.एल.जे. 328 मणिराम वि. श्रीमती फुलेश्वर पूर्णपीठ*** (2) ***ए.आय.आर. 2001 सु.को. 279 रतनसिंह विरूद्ध विजय सिंह*** जो अनुच्छेद 136 मर्यादा अधिनियम पर है, (3) ***ए.आय.आर. 1954 मैसूर 86 श्रीमती लूसी वि. फर्नांसिस,*** (4) ***ए.आय. आर. 1942 मद्रास 604 अवासारला कामराज वि. बाला सुरम्मा।*** **ए.आय.आर. 2001 सु.को. 279** का पालन अनिवार्य है ही यह बताने की आवश्यकता नहीं।

विविध आवेदन पत्रों के संबंध में भी ध्यान रहे विशेषकर मर्यादा विषय में। अनुच्छेद 122 एवं 123 मर्यादा अधिनियम हमेशा अच्छे से पढ़े हुए हों क्योंकि इनका उपयोग इस संबंध में बार–बार करना पड़ता है। आ. 9 नि. 9, आ. 9 नि. 13, आ. 41 नि. 19 के प्रावधानों के लिए भी अनुच्छेद 122 एवं 123 लागू होंगे।

रिवीजन की स्थिति भी इन सबसे भिन्न नहीं है अतः उपरोक्त संबंध में प्रारंभिक रूप से अच्छे से अध्ययन हो ताकि काल्पनिक रूप से कोई आदेश पारित नहीं हो सके।

समन्स निर्वाह :

एक अन्य समस्या है प्रतिवादी/विपक्ष पर समन्स निर्वाह की। इस संबंध में हम मान बैठते हैं कि समन्स का निर्वाह विपक्ष पर हुआ है या नहीं यह तय करने का कर्त्तव्य रीडर का है तथा या तो वो कहेगा ऐसा मान लेंगे अथवा बारी हमारे पर आती है तो हम तो अंदाज से तय करेंगे की समन्स निर्वाहित हुआ है या नहीं। परिणाम यह होता है कि काफी समय बाद आ. 9 नि. 13 का आवेदन पत्र संस्थित होता है तो उसे गुणदोष पर स्वीकार किया जाता है तब पुनः मूल प्रकरण रेकार्ड पर लाना होता है जो पुराने रजिस्ट्रेशन क्रमांक पर दर्ज होगा। आवेदन पत्र अस्वीकार करते हैं तो उच्च न्यायालय से यदि आवेदन पत्र स्वीकार होकर आता है तब तक 10–12 वर्ष व्यतीत हो चुके होते हैं। यह केवल इसलिए की हमने उचित रूप से निर्धारित नहीं किया। आपके ध्यान में भी ऐसे कई दृष्टांत सामने आए होंगे। अतः आ. 5 व्य.प्र.स. के प्रावधान पढ़ना कितना अच्छा होगा। आ. 9 नि. 6 को भी इसी के साथ पढ़ना हर बात समझ में आ जाएगी। लेकिन शर्त यह है कि पढ़ा जाए। आ. 5 नि 19 ए का प्रावधान का पालन करना भी अनिवार्य है (***बसंत सिंह वि. रोमन कॅथोलिक मिशन 2001 (1)***

एम.पी.एल.जे. पेज 57 इससे ज्ञात होता है कि सामान्य प्रक्रिया सहित इस विशेष प्रक्रिया में भी समन्स का निर्वाह हो। निर्वाह निश्चित करने का यह सुनिश्चित माध्यम है। ***ए.आय.आर. 1969 सु. को. 630 मेसर्स मदन विरूद्ध वझिर*** का दृष्टांत विशेष कर चरण 6 जो की **ज्योति जनरल एप्रिल 1998 पृष्ठ 10** पर प्रकाशित किया है अवश्य पढ़ें एवं धारा 27 जनरल क्लाजेस एक्ट भी पढ़ें। इससे यह ज्ञात होगा कि नोटिस का निर्वाह हुआ है या नहीं यह कैसे निर्धारित करना चाहिए। समन्स निर्वाह करने की प्रक्रिया संबंधी एक कक्षा आदेशिका लेखक व नजारत सेक्शन के समस्त कर्मचारियों की लेना चाहिए व किसी जिम्मेदार न्यायाधीश को इस विषय पर भाष्य करना चाहिए तथा जिले के न्यायाधीशों ने भी उसका श्रवण करना चाहिए। व्यवहार न्यायालय नियम के नियम 42 से 90 को देखें। अवश्य देखें। ऐसा करने से प्रकरणों की संख्या कम करने में सहायता मिलेगी। अभी–अभी दो न्याय दृष्टांत देखने को मिले। ***नारायण सिंह वि. बनवारी लाल 2001 वि. नोट 40*** तथा ***मुनीर वि. रमेश उटवाल 2000 (2) जे.एल.जे. 233*** उक्त दृष्टांतों में व्यक्त भावना अवश्य समझ लें। आ. 9 नि. 7–9 आ. 8 नि. 10 व्य.प्र.स. के आवेदन पत्र निर्धारित करते समय ध्यान रहे कि व्यवहार प्रक्रिया संहिता के प्रावधान दंडात्मक नहीं होते हैं। अतः साम्या के दृष्टि से उस पर विचार करना होता है। प्रकरण के तथ्यों के आधार से चिंतन होना चाहिए।

विशेष आवेदन-पत्र :

आ. 10 के प्रावधानों का उपयोग यथा संभव व्यवहारिक धरातल पर किया जाता है। पक्षकार उपस्थित है तो बहुत अच्छी बात है। उत्तरवाद प्रस्तुत होने पर आ. 11 एवं आ.0 12 की प्रक्रिया हेतु अधिवक्ताओं को सतत् प्रेरित करना होगा व इसके लिए पक्षकारों की व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य भी की जा सकती है।

उत्तरवाद प्रस्तुत करने के बजाय अधिवक्तागण आ. 6 नि. 5 व्य.प्र.स. आ. 7 नि. 11 व्य.प्र.स. के आवेदन पत्र विशेष रूप से प्रस्तुत करते हैं। ऐसे आवेदन पत्र यदि निराकृत करना है तो हमें संताप आने की आवश्यकता नहीं है। यदि हम उन आवेदन पत्रों पर ठीक से विचार कर के आदेश पारित करें तो प्रभावी रूप से समय की काफी बचत होगी। अतः हमें आदेश लिखने की कला आना चाहिए एवं उन प्रावधानों की समझ हो। केवल पूर्वाग्रह से की यह आवेदन पत्र देरी से प्रस्तुत किया है ऐसा मानना भूल होगी। आ. 9 नि. 07 व्य.प्र.स. पर विस्तारपूर्वक लेख **ज्योति अक्टूबर 1998 के पृष्ठ 36** पर लिखा है। आ. 7 नि. 11 व्य.प्र.स. पर एक लेख **ज्योति अप्रैल 2000 पृष्ठ 146** में लिखा है वह देख लें। साथ ही ***2000 (3) एम.पी.एल.जे. 135 लखेश्वर वि. ढेबरासिंह*** का दृष्टांत आ. 7 नि. 11 पर देखें। एक लेख आ. 6 नि. 5 व्य.प्र.स. पर लिखा है जो कि **ज्योति अगस्त 1998 पृष्ठ 11** में प्रकाशित हुआ है।

एक पक्षीय कार्यवाही :

जहां पर प्रकरण में प्रतिवादी के विरूद्ध एक पक्षीय कार्यवाही हो जाती है वहां वादी को साक्ष्य प्रस्तुत करने हेतु अवश्य कहें यदि आप अभिकथनों के आधार से दावा पारित नहीं करते हैं। इस संबंध में यह भी ध्यान रहे कि यदि प्रतिवादी एक पक्षीय है तो भी वाद प्रश्न अवश्य निर्मित करें इन सब बातों पर एक एक लेख **फरवरी 2000** की **ज्योति पृष्ठ 20 एवं 33** पर लिखा है अवश्य देखें। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय ***(1999) 8 सु.को.के. 396 बलराम वि. सुनील*** एवं ***गप्पूलाल वि गजानंद 2001 (1) एम.पी.एच.टी. 150*** को अवश्य समझ लें। एक पक्षीय प्रकरणों में वादप्रश्न क्यों बनना चाहिए इस पर एक संक्षेपिता **"बेहतर है जान लो" में भी लिखी है। देख लें। वह इसी अंक में प्रकाशित हुआ है।**

वाद प्रश्न :

उभय पक्षों के द्वारा अभिकथन पूर्ण होने के पश्चात वाद प्रश्न बनते हैं। वाद प्रश्न कैसे बनाना यह बात

व्यवहार न्यायालय नियम 144–145 में बताई है। सन् 2000 के नियुक्त व्यवहार न्यायाधीशों को जब दूसरी बार लगभग 4–5 माह बाद बुलाया तब भी उन्होंने वे प्रावधान नहीं पढ़े थे। आ. 14 सहित उससे संबंधित प्रावधान भी बताए थे। एक लेख इसी विषय पर **ज्योति 1998 अप्रेल 1998 पृष्ठ 56** पर लिखा है क्या आप उसे भी पढ़ लेंगे? अपेक्षा है सकारात्मक उत्तर की एवं व्यवहारिकता में परिणित करने की। एक निर्णय के कुछ अंश प्रकाशित कर रहा हूं वे इस प्रकार है। "..... issues must be confined as required by O-14-RI to material question of fact or law, to facta probantia i.e. the evidence by which material questions of fact are proved or disproved. Since the distinction between the two sets of facts mentioned in O.6 R.2 is often disregarded and issues are framed on what may be called subordinate facts or evidentiary matter. इस विषय पर **लॉ ऑफ प्लीडिंग लेखक मुल्ला** को पढ़ना उचित होगा। ***ए.आय.आर. 1971 म.प्र. 172 लेखराज वि. सावनसिंह*** में कहा है कि every pleading should contain only facta probanda, and not facta probantia.यही बात व्यवहार न्यायालय नियम 145 (ग) में इस प्रकार कही है "कोई भी तथ्य का प्रतिपादन जो स्वयम् में महत्वपूर्ण प्रतिपादन न हो परन्तु महत्वपूर्ण प्रतिपादन को सिद्ध करने की ओर प्रवृत्त होने से संगत हो, वाद–विषय का विषय नहीं होगा।" वाद प्रश्न बनाने का काम ठीक वैसा ही है जैसा टेलर मास्टर द्वारा किसी व्यक्ति के कपडे सीने के लिए ठीक–ठीक नाप लेना। अर्थात यदि कम ज्यादा नाप लिया है तो तंग या ढीले कपडे होंगे। यदि वाद प्रश्न ठीक से बने हैं तो साक्ष्य पर नियंत्रण रहेगा व आवांतर साक्ष रेकार्ड पर नहीं आ पाएगी। निर्णय देने में आसानी होगी।

साक्ष्य निर्धारण एवं साक्ष्य नियंत्रण :

साक्ष्य निर्धारण की तिथि आज कल औपचारिक हो गई है। कदाचित ही कोई पक्षकार साक्ष्य सूची एवं भत्ता व्यय प्रस्तुत करता है। न्यायालयों को पुनः धीरे–धीरे कठोर बनना होगा। साक्ष्य सूची एवं भत्ता व्यय अवश्य जमा करने को कहें। ध्यान रहे कि आ. 16 नि. 1 के अनुसार साक्ष्य निर्धारण की तिथि 15 दिन से अधिक की नहीं देना होती है। साक्षियों को आहूत करने का कठोर प्रावधान आ. 16 नि. 1 ए को देखें।

साक्ष आ. 16 एवं आदेश 18 व्य.प्र.स. साक्ष्य के संबंध में है। किस अनुक्रम से साक्ष्य लिपिबद्ध होना है यह भी बताया है। साक्ष्य निर्धारण तिथि पर ही बहुत सी बातें आदेशिका में लिखी जाती है। साक्ष्य सूची अनुसार अधिवक्तागणों को पूछा जाना चाहिए कि कौन सा साक्षी क्या सिद्ध करेगा। (पृथक से इस विषय पर बताया जा सकेगा) यदि आपने अभिकथनों को पढ़ कर वाद प्रश्न बनाए हैं (अर्थात सहायता वाले अभिकथनों को मात्र देखकर नहीं बताए हों) तो आप साक्ष्य पर अच्छे से नियंत्रण रख सकेंगे। आपको अभिकथनों का स्मरण हो सकेगा। साक्ष्य लिपिबद्ध करते समय भी आप वाद प्रश्न अपने सामने रखें। साक्ष्य से संबंधित साक्ष्य अधिनियम की कुछ विशेष धाराएं समय–समय पर देखना उचित होता है। जैसे तथ्य जिनको सिद्ध करना आवश्यक नहीं (धारा 56–57–58), मौखिक साक्ष्य (59 एवं 60), दस्तावेजी व साक्ष्य 61 से 73 दस्तावेज कैसे सिद्ध करना एवं उस विषय में 34 धारणाएं (धारा 74 से 90) साक्षियों के परीक्षण के विषय में (धारा 135 से 165 विशेषकर धारा 145–154, 159, 165 को ध्यान रखना है। साक्ष्य जितनी चैतन्य अवस्था में लिपिबद्ध होगी वह गुणात्मक होगी व सार संक्षिप्त भी होगी। एक दृष्टांत ***भवरजी वि. अयोध्याबाई 2001 रा.नि. (उच्च न्यायालय) पृष्ठ 76*** भी देखें जहां बताया है कि कब स्वीकृत विलेख भी सिद्ध करना होगा।

साक्ष्य लिपिबद्ध करना कला है। लेकिन उस कला में आप निपुण हो या न हो दक्ष हो या न हो एक बात हर न्यायाधीश ने करना ही चाहिए कि एक समय एक ही कार्य एक ही साक्षी का परीक्षण; और कुछ नहीं। **साक्ष्य आपको लिपिबद्ध करवाना है** अतः यह आप ही करेंगे। इस सम्बन्ध में उच्च न्यायालय के परिपत्र हैं व इस

सम्बन्ध में **अगस्त 1999 ज्योति पृष्ठ 262** पर संपादकीय भी है। यदि हम साक्ष्य लिपिबद्ध करने का काम लिपिक पर सौंप देंगे तो हम हमारे न्यायालय की गरिमा को घटा रहे हैं व न्यायपालिका के प्रति अविश्वास की भावना दूसरों के मन में जगा रहे होंगे।

निर्णय देना :

निर्णय देने के पूर्व न्यायालय का कर्त्तव्य है कि अधिवक्तागणों के तर्क सुनें। लिखित तर्क प्रस्तुत होते हैं तो और भी अच्छा। इस संबंध में प्रावधान आ. 18 नि. 2 में दर्शाया गया है।

निर्णय कैसा हो यह कहना कठिन है। लेकिन उत्तम कोटि का निर्णय देने के लिए अष्ट पहलू दृष्टिकोण होना चाहिए। विषय से संबंधी विधियां, साक्ष्य के मूल्यांकन की कला यह धीरे–धीरे विकसित होगी यदि इच्छा रूपी बीज को कर्म रूपी जमीन में अच्छे से बोया है। आ. 20 नि. 6 ए एवं 6 बी अच्छे से ध्यान कर ले तथा व्यवहार न्यायालय नियम पाठ 9 नियम 151 से 182 व विशेषकर 165 से 167 अवश्य पढ़ें। इसी विषय पर एक लेख **ज्योति अगस्त 1998 के पृष्ठ 21** पर लिखा है। अवलोकन किया जा सकेगा।

विविध आदेश :

अंतरिम आवेदन पत्रों पर समय समय पर विविध आदेश पारित करना होते हैं। वे कैसे लिखे जाना है यह कला भी अनुभव के साथ विकसित होगी। आ. 6 नि 5 व्य.प्र.सं. पर आदेश कैसा लिखना यह **ज्योति जनरल अगस्त 1998 पृष्ठ 11** पर विस्तार से बताया है। यहां यह बताना पर्याप्त होगा कि आपके आदेश मात्र से प्रकरण का एवं संबंधित आवेदन पत्र का चित्रण सामने आ जाए व तत्पश्चात आवेदन पत्र पर गुणदोष के आधार से आदेश **अगस्त 1998 पृष्ठ 11** का उल्लेखित लेख देख लेंगे तो कल्पना आएगी। आदेश का प्रथम चरण ऐसा हो कि यह आदेश वादी/प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत आवेदन पत्र जो कि आ. 6 नि. 17 व्य.प्र.स. का है तथा जो दिनांक 01-04-2001 का प्रस्तुत किया है पर दिया जा रहा है। दूसरा चरण यह होगा कि वादी का वाद प्रतिवादी के विरूद्ध निष्कासन हेतु म.प्र. स्था. नि. अ. के अमुक प्रावधान के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। तीसरा चरण यह होगा कि प्रतिवादी ने वादी का वाद अस्वीकार किया है। चौथे चरण में आवेदन पत्र से संबंधी तथ्य संक्षेप में तथा पांचवे चरण में विपक्ष का उक्त आवेदन पत्र के संबंध में कथन एवं पश्चात विचारणीय प्रश्न ये सब बातें सामान्यतः अति सूक्ष्म रूप से सारगर्भित रूप से कहीं लिखी जा सकती है। तत्पश्चात आपका आदेश हो जो विचारोपरान्त हो। संबंधित विधि का अध्ययन व ज्ञान हो जिस विषय में आवेदन पत्र पर आदेश लिखा जा रहा है।

अस्थाई निषेधाज्ञा पर कैसा आदेश किन शर्तों के साथ लिखा जाना है यह विस्तार से बताया है **ज्योति 1999 दिसंबर पृष्ठ 470**। कुल मिलाकर ध्यान यह रखना है कि आपका आदेश स्वयं में पूर्ण व सुस्पष्ट हो। यदि आदेश के विरूद्ध रिवीजन होना है व आदेश ज्यादा दीर्घ नहीं लिखा जाना है तो फाईल की आदेश पत्रिका में लिखा जा सकता है लेकिन उसकी अपील होना हो तो उसे पृथक से लिखें। किन आदेशों की अपील होती है यह बात धारा 104 सपठीत आदेश 43 नियम 1 व्य.प्र.स. में बताई है। 'डिक्री' की भी परिभाषा अवश्य देख लें। धारा 105 व्य.प्र.स. का प्रावधान भी महत्वपूर्ण है।

'प्रक्रिया संबंधी विवरण' यह लेख **'ज्योति' अक्टूबर 1998 पृष्ठ 8** पर छपा है जो **माननीय न्यायाधिपति श्रीमान के.के. वर्मा महोदय (सेवानिवृत्त)** ने लिखा है। दूसरा लेख **'व्यवहार न्यायालय में कार्य पद्धति' ज्योति 1998 दिसम्बर पृष्ठ 5 पर श्री मांगीलालजी कसानिया** का है, आदेशिकाओं के सम्बन्ध में एक लेख **'आदेशिका प्रारूप' 1999 ज्योति जून पृष्ठ 151** पर है जो **माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर.पी. अवस्थी महोदय**

(सेवानिवृत्त) का है, समय–समय पर एक–एक कर के पढ़ना एवं उसको दोहराना लाभदायक होगा क्योंकि स्मरण शक्ति यह स्थायी भाव कभी नहीं रहा है।

आपत्तियों का निराकरण :

न्यायालय में साक्ष्य लिपिबद्ध करते समय कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर आपत्तियों का निराकरण करने का अवसर आता है। यह वह समय होता है जो हमारी परीक्षा की घड़ी होती है। विलेखों का साक्ष्य में ग्राह्य करना या न करना एक समस्या है। चलती साक्ष्य में ऐसी आपत्ति उपस्थित कर दी जाती है। यदि हमें कोर्ट फीस एक्ट, स्टैम्प एक्ट, रजिस्ट्रेशन एक्ट आदि फिस्कल लॉज (राजकोशीय विधि) की जानकारी व ज्ञान नहीं है तो हम कुछ न कुछ बहाना ढूंढेंगे एवं अधिवक्ताओं को तारीख दे देंगे व बिन मांगे मनचाही इच्छा हम उनकी पूर्ण कर देंगे व प्रकरण में देरी होगी। अतः नैमित्यिक रूप से प्रदर्शित होने वाले बॉन्ड, प्रोनोट, हुंडी, किरायानामा आदि विषयक प्रावधान, ड्यूटी, पेनाल्टी विषयक व पंजीयन विषयक मूलभूत ज्ञान हो तो प्रकरण पर नियंत्रण रखा जा सकेगा व तत्काल आदेश पारित हो सकेगा व साक्ष्य को उसी समय आगे बढ़ाया जा सकेगा। मार्गदर्शक सिद्धान्त के रूप में दो दृष्टांत देखने योग्य होंगे व शेष के लिए यथास्थान न्याय दृष्टांत देखे जा सकते हैं। दो दृष्टांत इस प्रकार हैं। **ए.आय.आर. 1961 सु. को 1655** ***जवरचंद वि. पुखराज*** एवं **1978 सु. को 1393** ***रामरतन वि. भोजराज*** को विशेष रूप से देखें। इस संबंध में **तीन लेख, ज्योति जनरल 1997 में अप्रैल माह की पत्रिका में पृष्ठ 27 पर, अक्टूबर माह के पृष्ठ 39 पर एवं दिसंबर माह के पृष्ठ 6 पर,** लिखे हैं वे भी पढ़ लें। उसमें भी सभी प्रकार की कार्यवाहियों के विषय में विस्तार से बताया है।

साक्ष्य में प्रश्नों की ग्राह्यता के विषय में आपत्ति आने पर आप आपत्ति का निराकरण करें। आपके न्यायिक विवेकानुसार आदेश दें। लेकिन एक काम अवश्य करें कि जहां महत्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में आपत्ति हों वहां प्रथमतः प्रश्न को प्रश्न के रूप में लिख लें। देखें आ. 18 नि. 10 एवं 11 तथा साक्ष्य अधिनियम की धारा 138 पर भाष्य फिर उस प्रश्न पर आपत्ति लिखकर निराकरण करने आदेश दें व यदि प्रश्न ग्राह्य करते हैं तो उसका उत्तर भी लिख दें। जिससे वरिष्ठ न्यायालय आपसे सहमत/असहमत है तब भी उस उत्तर को वह अपने हिसाब से ग्राह्य/अग्राह्य करेगी। इस संबंध में धारा 167 साक्ष्य अधिनियम स्पष्ट है। लक्ष्य यह हो कि अनावश्यक रूप से साक्ष्य रोकी न जावे।

आ. 41 नि. 22-33 एवं 27 :

इन प्रावधानों का अध्ययन व्य.प्र.स. के रूप में एवं कोर्ट फी के रूप में अच्छे से करके रखें। आ. 41 नि. 27 के प्रावधान कठोर प्रकृति के हैं अतः हमारी ओर से ढिलाई नहीं दी जाना चाहिये। आ. 41 नि. 22–33 के प्रावधान का बहुत बड़ा विस्तार है जिसका उपयोग न्यायदान में होना चाहिए। **माननीय न्यायाधिपति श्रीमान आर.एस. गर्ग साहेब** ने अपनी संस्था में एक से अधिक बार विस्तार से भाष्य किया था। जिन्होंने सुना व समझा (Heard and Listen) है उन्हें निश्चित लाभदायक ही रहा होगा।

समापन :

मित्रो। प्रश्न केवल अनुभव प्राप्ति का है, विश्वास का है व निर्भय रूप से काम करने का। हिक़मत अमली, व्यवहारिक चातुर्य एवं प्रैक्टिकल एप्रोच एक ही शब्दावली एवं अर्थावली है उसे समझे, जाने व समझदारी से व्यवहार में परिवर्तित करने का प्रयत्न करें। निश्चित ही आप अपनी साख सिद्ध कर पाएंगे। निश्चित समझें कि आपकी क्रियाएं आपका कर्म बोलेगा कि आप क्या है। आशा है यह लेख पायलेट प्रोजेक्ट के उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु लाभदायक सिद्ध होगा।

प्रारंभिक वाद प्रश्न : पहचान एवं सुनवाई

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

पूर्व में एक लेख वाद–प्रश्नों की निर्मिति के संबंध में **ज्योति 1998 (2) अप्रैल पृष्ठ 56** पर प्रकाशित हुआ था उसमें पृष्ठ 60 पर आ. 14 नि. 2 व्य.प्र.स. के विषय में बताया है। उक्त प्रावधान प्रारंभिक वाद प्रश्नों के संबंध में है। **'विधि एवं तथ्य'** पर एक और लेख **ज्योति 1997 (3) जून पृष्ठ 6** पर लिखा गया था। विभिन्न अवसरों पर प्रशिक्षण वर्ग में इस विषय पर जब पढ़ाया गया एवं बताया गया तो प्रत्युत्तर में प्रतिसाद के रूप में कोई भी प्रतिध्वनि नहीं ज्ञात हुई। अर्थात गूंजन में समवेद नहीं था। अतः यह एक प्रयत्न पुनः किया जा रहा है कि 'विधि संबंधी प्रश्न' 'तथ्य संबंधी प्रश्न' एवं 'विधि तथा तथ्य संबंधी मिश्रित प्रश्न' पर एक टीप लिखी जावे। न्यायिक अधिकारीगणों से निवेदन है कि वे कृपया उपर उल्लेखित लेख दुबारा पढ़ लें तो इस विषय को हमेशा के लिए पक्का किया जा सके।

आ. 14 नि. 2 व्य.प्र.स. के प्रावधान इस प्रकार है। अंग्रजी में प्रावधान इस प्रकार है :–

O14 2. Court to pronounce judgment on all issues.-

(1) Notwithstanding that a case may be disposed of on a preliminary issue, the Court shall, subject to the provisions of sub-rule (2), pronounce judgment on all issues.

(2) Where issues both of law and fact arise in the same suit, and the Court is of opinion that the case or any part thereof may be disposed of on **an issue of law** only, it may try that issue first if that issue relates to-

(a) the jurisdiction of the Court, or

(b) a bar to the suit created by any law for the time being in force,

and for that purpose may, if it thinks fit, postpone the settlement of the other issues until after that issue has been determined, and may deal with the suit in accordance with the decision on that issue.

हिन्दी अनुवाद :-

आ. 14 2. न्यायालय द्वारा सभी विवाद्यकों पर निर्णय सुनाया जाना -

(1) इस बात के होते हुए भी कि वाद का निपटारा प्रारंभिक विवाद्यक पर किया जा सकेगा, न्यायालय उपनियम (2) के उपबन्धों के अधीन रहते हुए सभी विवाद्यकों पर निर्णय सुनाएगा।

(2) जहां विधि विवाद्यक और तथ्य विवाद्यक दोनों ही एक ही वाद में पैदा हुए हैं और न्यायालय की यह राय है कि मामले या उसके किसी भाग का निपटारा **केवल विधि विवाद्यक** के आधार पर किया जा सकता है वहां यदि वह विवाद्यक–

(क) न्यायालय की अधिकारिता, अथवा

(ख) तत्समय प्रवृत्ति किसी विधि द्वारा सृष्ट वाद के वर्जन,

से संबंधित है तो वह पहले उस विवाद्यक का विचारण करेगा और उस प्रयोजन के लिए यदि वह ठीक समझे तो, वह अन्य विवाद्यकों का निपटारा तब तक के लिए मुल्तवी कर सकेगा जब तक कि उस विवाद्यक का अवधारण न कर दिया गया हो और उस वाद की कार्यवाही उस विवाद्यक के विनिश्चय के अनुसार कर सकेगा।

उपरोक्त प्रावधान एकदम सुस्पष्ट है। किन विवाद्यकों का निराकरण प्रारंभिक वाद प्रश्नों के रूप में होगा किन का नहीं यह बताया गया है और यह भी लिखा है कि यद्यपि हम कुछ मुद्दों को सुनकर ही प्रकरण का अंतिम रूप से निराकरण कर सकते हैं। लेकिन ऐसा करने का मुक्त अधिकार न्यायालय को नहीं दिया है। वह अधिकार सशर्त है। वह अधिकार आ. 14 नि. (2) से नियंत्रित होता है। आ. 14 नि. 2 (1) में जो शब्द प्रयोग किया गया है उसका अर्थ यह है कि संभव है कि किसी एक वाद प्रश्न को चुन लिया जावे व उस पर यदि निर्णय दे दिया जाता है तो प्रकरण का अंतिम रूप से भी निराकरण हो सकता है। इसलिए हम यदि ऐसा करते हैं तो यह तब गलत होगा जब आ. 14 नि. 2 व्य.प्र.स. के अनुसार प्रक्रिया का पालन न करके किसी वाद प्रश्न के निराकरण के आधार पर प्रकरण निराकृत कर देते हैं। इस संबंध में **ए.आय.आर. 1973 इलाहाबाद पृष्ठ 499 एवं ए. आय.आर. 1973 राजस्थान (डी.बी.) 7** (*धनराज जैन वि श्रीमती सूरज बाई*) का दृष्टांत यह बताता है कि वाद का अंतिम रूप से निराकरण करने हेतु यदि किसी एक वाद प्रश्न के आधार से ही उसका निराकण किया जाना हो तो वह विधि का प्रश्न मात्र हो। एक महत्वपूर्ण बात **ए.आय.आर. 1970 राजस्थान पृष्ठ 131** (*प्रद्यूमन कुमार वि गिरधारी*) में भी बताई है। उसमें कहा है कि यद्यपि कोई वाद प्रश्न विधि का है तब भी आप उसे प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में निराकृत नहीं कर सकेंगे यदि उस वाद प्रश्न के निराकरण के लिए जांच छान–बीन (इन्व्हेस्टिगेशन) की आवश्यकता हो। यही बात प्रकारान्तर से **ए.आय.आर. 1973 पटना 184 में एवं 1972 एम.पी.एल.जे. पृष्ठ 312=1972 जे.एल.जे. 448** (*बालचन्द वि. बसंती देवी*) में कही है। ये दृष्टांत व्य.प्र.स. के संशोधन पूर्व प्रावधानों पर है लेकिन जहां इन्व्हेस्टिगेशन इन्क्वायरी आदि की आवश्यकता है वहां वे वाद प्रश्न, संशोधित प्रावधान (1976 के संशोधन) के पश्चात, प्रारंभिक वाद प्रश्नों के रूप में नहीं सुने जा सकते हैं। इस संबंध में महत्वपूर्ण दृष्टांत म.प्र. उच्च न्यायालय का **ए.आय.आर. 1978 म.प्र. पृष्ठ 16 (डी.बी.)** ***मेसर्स रामदयाल वि. मेसर्स पन्नालाल*** देखने योग्य है। यह एक महत्वपूर्ण दृष्टांत है। उक्त दृष्टांत में विभिन्न दृष्टांतों का अध्ययन करके, विश्लेषण करके कुछ सिद्धांत पथप्रदर्शित किए हैं जो मार्ग दर्शनपूर्ण है। चरण 4 व 5 महत्वपूर्ण है। उक्त दृष्टांत का अध्ययन इस विषय को समझने हेतु लाभदायक रहेगा। उक्त दृष्टांत का चरण 4 एवं चरण 5 का कुछ हिस्सा यहां पुनः प्रकाशित कर रहा हूं जो इस प्रकार है।

Where the question is a pure question of law or a mixed question of law and fact and may result in the disposal of the suit it should be decided as a preliminary issue. Where the question is a pure question of law but which may not dispose of the entire suit. it is not necessary to decide it first and it may await the stage of the final decision of the suit Where the question of law is mixed with facts. on which facts there are independent issues of fact to be tried, the decision on the question has to be postponed and it cannot be tried first as a preliminary issue.

एक अन्य दृष्टांत **ए.आय.आर. 1991 इलाहाबाद पृष्ठ 89 (पूर्ण पीठ)** ***सुन्नी सेंट्रल वक्फ बोर्ड विरूद्ध गोपाल सिंह*** भी महत्वपूर्ण है। उसे भी पूर्णतः पढ़ा जाना विषय को समझने हेतु उपयुक्त होगा। ए.आय. आर. को आभार व्यक्त करके महत्वपूर्ण हिस्सा यहां प्रकाशित कर रहा हूं।

AIR 1991 ALLAHABAD 89
FULL BENCH
S.C. MATHUR, BRIJESH KUMAR AND S.H.A. RAZA, JJ.

Sunni Central Waqf Board and others, Petitioners v. Gopal Singh Vishrad and others, Opposite parties.

O. O. S. No. 4/1989, D/- 22-8-1990.

(A) Civil P.C. (1908), O.14, R. 2 (as amendment 1976)- Scope- Word "shall" in unamended R. 2- Replaced by word "may" Preliminary issue- It is no longer obligation after 1976 amendment to try it first. Discretion lies with Court- Only those issues falling u/cls. (a) and (b) of R.2 (2) can be tried as preliminary issues.

Under O. 14, R. 2 as it stood prior to 1976 amendment, once the court came to the conclusion that the case or any part thereof could be disposed of on the issues of law only, it was obliged to try those issues first and the other issues could be taken up only thereafter, if necessity survived. The court had no discretion in the matter. This flows from the use of the words "it shall try those issues first". The word "shall" used in old O. 14, R. 2 has been replaced in the amended Rule by the word "may" Thus now it is discretionary for the Court to decide the issue of law as a preliminary issue or to decide it along with the other issues. It is no longer obligatory for the Court to decide an issue of law as a preliminary issue.

(B) Civil P.C. (1908) O. 14, R. 2 (2) (b)- "Bar to suit"- Issues which cannot be tried as preliminary issue- Illustrations.

U.P. Muslim Wakf Act (13 of 1936), S. 5 (1).

Limitation Act (1908), S. 23.

An issue involving the question whether a notification identifying and notifying certain property wakf property is bad in law and in any case not binding upon the Hindus, does not involve "bar to the suit" referred to in cl. (b) of R. 2 (2) of O. 14 and therefore cannot be tried as a preliminary issue.

Mis-joinder of party is not covered by the expression "bar to the suit". referred to in cl. (b) of R. 2 (2). The plea of non-joinder also stands on the same footing as a plea of misjoinder and is not relatable to "bar to suit" referred to in cl. (b) of R. 2 (2).

Whether a suit is of representative character or not is not an issue covered by cl. (b) of R. 2 (2).

Whether certain property is mosque and grave-yard is an issue in respect of property. Court is the appropriate forum for adjudication of rival claims. This issue cannot, therefore, be said to raise a question of "bar to the suit".

The extent to which the plaintiffs suit can be decreed, if it is to be decreed at all does not raise the question of "bar to the suit" referred to in cl. (b).

Where the finding on the question whether the suit is barred by limitation depends upon oral evidence it may not be desirable to take up the issue as preliminary issues.

Where evidence on the alleged preliminary issue will be the same or almost the same as in the suit itself such issue should not be heard and tried as a preliminary issue. Thus where one party asserts that the place in dispute is a Hindu temple while the other party asserts that it is a mosque and graveyard and the question as to applicability of S. 23 of the Limitation Act (1908) is involved which could be decided only after examining the evidence adduced by both parties, the same cannot be tried as preliminary issue.

(C) Civil P.C. (1908) O. 14, R. 2- Preliminary issue- Whether to try first. Discretion lies with court- Dispute whether a place is Hindu temple or mosque and grave yard- Case of vital- importance to country- Some issues covered by cls. (a) and

(b) of R. 2 (2) Still court declined to try them as preliminary issues as same would cause delay in disposal of case.

After the amendment to Civil P.C. brought about in the year 1976 it is discretionary with the Court to take up an issue as a preliminary issue. The Court is not bound to take up any issue as a perliminary issue. All Judicial discretions have to be exercised reasonably. Even if some of the issues fall within the ambit of cls. (a) and (b) of R. 2 (2) of O. 14 the Court can, on reasonable exercise of discretion, refuse to try those issues as preliminary issues.

In the instant case the crucial issue involved is whether a place in dispute is a Hindu temple or a Muslim mosque and grave-yard. Some suits connected with the issue are pending and the dispute raised in these suits is of vital importance to the country. It is not a suit between two individuals. It is a dispute between two major communities of the country. Off and on leaders of these communities adopt hostile postures. The entire nation is waiting for resolution of the dispute. Delay in resolution of the dispute threatens to disturb peace in one or the other part of the country. It is, therefore, desirable that all the suits should be decided as early as possible. The decision of the preliminary issues will cause delay in the final resolution of the dispute. Accordingly, even if some issues fall within the ambit of cls. (a) and (b) of R. 2 (2) of O. 14, the Court declined to try them as preliminary issues.

कुछ अन्य दृष्टांतों का सार संक्षिप्त में लेख के अंत में बताया जा रहा है।

यदि हम चाहते हैं कि इस विषय को सूत्र रूप में उत्तरित किया जावे तो एक ही सूत्र में यह उत्तर दे सकते हैं कि जहां पर कोई वादप्रश्न निर्णित करने हेतु, हमें यदि कलम उठाना पड़े, (अर्थात साक्ष्य लिपिबद्ध करना हो) तो ऐसा वाद प्रश्न कभी भी प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में निर्णित नहीं करना है। यदि वरिष्ठ न्यायालय का आदेश अन्यथा हो तो हम उसका पालन अवश्य करेंगे। लेकिन सूत्र यहीं हैं।

अब इस विषय को उदाहरणों द्वारा समझाया जा सकता है। किसी दावे के लिए मर्यादा काल मानो तीन वर्ष है। दावे का कारण 01–01–1996 को उत्पन्न हुआ। तीन साल की अवधि 01–01–1999 को समाप्त होगी। यदि दावा 01–01–1999 को नहीं प्रस्तुत होता है व तत्पश्चात 02–01–1999 को या अन्य किसी भी तिथि को प्रस्तुत होता है तो धारा 3 मर्यादा अधिनियम के प्रावधान लागू होंगे जिसमें न्यायालय का यह कर्तव्य बताया है कि ऐसा दावा निरस्त कर दिया जाएगा। आ. 7 नि. 11 व्य.प्र.स. की उपधारा 'डी' में बताया है कि जहां वाद पत्र के कथन से यह प्रतीत होता है कि वाद किसी विधि द्वारा वर्जित है तो वह निरस्त कर दिया जाएगा। अर्थात मर्यादा बाह्य दावा मर्यादा विधि से वर्जित है। अतः ऐसी स्थिति में विधिवत सुनवाई का अवसर देकर प्रकरण का अंतिम रूप से निराकरण किया जा सकता है। एक अन्य दृष्टिकोण से इसी उदाहरण को देखें। वाद का कारण 01–01–1996 को उत्पन्न हुआ। दावा 01–01–1999 को या उसके पूर्व लगना चाहिए। लेकिन 01–01–1999 से 04–01–1999 तक सार्वजनिक अवकाश था। अतः दावा 05–01–1999 को अगले कार्य दिवस पर प्रस्तुत हुआ। आ. 7 नि. 6 व्य.प्र.स. सपठित धारा 4 मर्यादा अधिनियम का अभिकथन दावे में किया था। इस विषय में प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में सुनवाई की मांग प्रतिवादी ने की। ऐसा वाद प्रश्न प्रारंभिक वादप्रश्न के रूप में सुना जा सकता है क्योंकि विधि संबंधी मुद्दा है व छुट्टी कब कब थी यह तर्क सुनकर निराकरण हो सकता है। अधिक जांच पड़ताल की आवश्यकता नहीं है।

इसी उदाहरण को अन्य दृष्टिकोण से आगे बढ़ाते हैं। वाद का कारण 01–01–1996 को उत्पन्न हुआ। दावा 01–01–1999 तक या उस रोज प्रस्तुत होना चाहिए। लेकिन इस बीच 31–12–1998 को प्रतिवादी

ने लेने देने के इस व्यवहार पेटे रू. एक सौ संदाय किए। वादी ने विधिवत रसीद दी व प्रतिपर्त पर प्रतिवादी ने हस्ताक्षर किए। तत्पश्चात कोई रकम प्रतिवादी ने संदाय नहीं की। अतः प्रतिवादी के विरूद्ध वादी ने यह लिखते हुए कि दावे का कारण 01–01–1996 को व तत्पश्चात अभिस्वीकृति के पश्चात 31–12–1998 को उत्पन्न हुआ व दावा 31–12–2001 को प्रस्तुत करें तो इस विषय पर मर्यादा संबंधी विवाद प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में निर्णित नहीं होगा। क्योंकि प्रतिवादी द्वारा रू. 100 का संदाय 31.12.1998 को करना तथा जो पावती वादी द्वारा दी गई वह अभिस्वीकृति है यह बात तथ्यों के आधार से निर्णित होगी व तब हम निर्धारित कर पाएंगे कि क्या वाद अवधि में है। इस प्रकार ऐसा वाद प्रश्न विधि संबंधी वाद प्रश्न भी होता है तथा तथ्य एवं विधि का मिश्रित वादप्रश्न भी होता है। अतः मिश्रित वादप्रश्न कभी भी प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप निर्धारित नहीं होता है। जैसे छल–कपट आदि के विषय में अथवा ऐसे विषय के संबंध में जहां प्रथमतः तथ्यों के आधार से पक्षकारों के संबंध व परिणामतः उस पर आधारित विधि प्रश्न हो तो वह मिश्र वाद प्रश्न होता है। यथा मेरे से छलकपट करके (विशेष अभिकथन आ. 6 नि. 4 के अंतर्गत अनिवार्य है) वादी ने प्रोनोट लिखवा लिया ऐसा मेरा कहना है तो छल कपट धारा 15.16 संविदा अधिनियम के अंतर्गत अथवा धारा 415 से 420 भा.द.वि. के अंतर्गत का आधार, तो बाद में तय होगा लेकिन छल कपट की प्रवृत्ति, प्रकार क्या था यह बात प्रथमतः न्यायालय को विस्तृत जांच से निर्धारित करना होगी व तत्पश्चात ही विधि की कसौटी पर जांच परख करना होगी। यही बात सम्मिश्र प्रश्न कहलाती है। इस बात को ***1983 एम.पी. वीकली नोट्स 13, भरोसे वि. कामलचंद एवं 1996 (II) एस. सी.सी. पृष्ठ 480 (बी) बृजकिशोर वि. रामसिंह*** के दृष्टांत से और अधिक सूक्ष्मता से देखा जा सकता है। इन दृष्टांतों से ज्ञात होगा कि जहां पर साक्ष्य का लिपिबद्ध करना मूल्यांकन, करके तथा निष्कर्ष निकालने के पश्चात देखना होगा कि उपलब्ध तथ्य दुर्वपदेशन, असम्यक असर, छल–कपट भूल जैसी कोई स्थिति है क्या एवं यदि है तो विधि दृष्टिकोण से ऐसी स्थिति इन तथ्यों के आधार से बनती है क्या।

आ. 14. नि. 2 (2) में शब्द प्रयोग है **केवल विधि विवाद्यक (an issue of law)** प्रयोग किया है तथा तत्पश्चात दो बातें ये बताई हैं कि विधि विवाद्यक भी केवल वे जो (1) न्यायालय की अधिकारिता, अथवा (2) तत्समय प्रवृत्त किसी विधि द्वारा सृष्ट वाद का वर्जन, करते हों को ही प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में निराकरण किया जा सकता है। तथ्यों या मिश्रित प्रश्नों का निराकरण नहीं हो सकता। यदि किसी न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अंतर्गत लाने हेतु किसी वाद का अधिक मूल्यांकन किया हो व न्यायालय फीस अधिनियम स्पष्ट है कि किसी वाद का कितना मूल्यांकन होगा व कितनी फीस देय होगी तो ऐसा वाद प्रश्न प्रारंभिक रूप से सुना जा सकता है क्योंकि ऐसे विवाद की जांच मौखिक तर्कों के आधार पर संक्षिप्त में होना है न कि विस्तृत रूप से जांच की जाना है। लेकिन वादी ने किसी संपत्ति का मूल्यांकन दस हजार किया व प्रतिवादी का कहना है कि मूल्य एक लाख रुपये है तथा यदि यह दावा व्यवहार न्यायाधीश वर्ग–2 के न्यायालय में चल रहा है तब भी यह वाद प्रश्न प्रारंभिक वाद प्रश्न के रूप में निराकृत नहीं किया जाना है क्योंकि प्रथमतः इस बात की जांच होगी कि संपत्ति का मूल्य क्या है। जांच विस्तार से होगी। जांच के पश्चात यदि मूल्यांकन 25000 रू. तक है व व्यवहार न्यायाधीश को उस मूल्य का दावा श्रवण करने का अधिकार है तो क्षेत्राधिकार का अंतर नहीं पड़ेगा लेकिन इससे अधिक का हो तो अंतर पड़ेगा व दावा क्षेत्राधिकार से बाहर, चला जाएगा।

जोति जनरल के उपर उल्लेखित लेखों में तथ्य संबंधी प्रश्न, विधि संबंधी प्रश्न व विधि तथा तथ्य संबंधी मिश्रित प्रश्न की चर्चा की थी। अभी हाल में 1958 का एक प्रकाशन देखने को मिला। बिल्कुल सोने में सुहागा। Analytical and practical Jurisprudence by Shri Jankiprasad Singhal Law Book Company का प्रकाशन है। उनके आभार व्यक्त कर इसी विषय से संबंधित सारवान रूप से लिखा गया भाग प्रस्तुत कर रहा हूं। हर बात स्वयं में स्पष्ट है। वो इस प्रकार है।

QUESTIONS WHICH COME BEFORE THE COURTS

Matters and questions which come before Courts may be-

(a) of law[1]; these are determined by legal rules or principles;

(b) of judicial discretion; these relate to as to what is right, just, equitable or reasonable, except so far as declared by law;

(c) of fact [2]; in respect to which the Court has to exercise its intellectual judgment on the evidence placed before it, in order to ascertain the truth and justice of the case;

(d) mixed questions of law and fact; in such cases, the Court has to find first what is the exact relation between the parties; this is a question of fact; then the Court has to determine whether that basic relationship constitutes a certain legal relation.

---

1. A question of law is a question as to what the law is. It has to be answered in accordance with established rules of law, or principles of law.

2. A question of fact means a question which is not pre-determined by an established rule of law, or any question except a question as to what the law is.

इस लेख के अंत में कुछ दृष्टांत प्रस्तुत कर रहा हूं उन दृष्टांतों से स्पष्ट होगा कि किन विभिन्न स्थितियों में किस प्रकार आ. 14 नि. 2 का प्रयोग करना है। एक बार पुनः दोहरा रहा हूं कि जहां पर साक्ष्य लिपिबद्ध करके वाद प्रश्न निर्धारित करना हो वह वाद प्रश्न विधि का प्रारंभिक वाद प्रश्न कभी नहीं होगा चाहे वह मिश्रित वाद प्रश्न क्यों न हो।

जिला/अति. जिला न्यायाधीशों का ध्यान धारा 96 (4) की ओर आकृष्ट करना चाहूंगा। जिसमें कहा है कि:

No appeal shall Lie from decree in any suit of the nature cognizable by Court of small cause when the amount or value & the subject matter of the original suit does not exceed three thousand rupees, except on a **question of law.** अर्थात यदि स्मॉल कॉज कोर्ट द्वारा सुनवाई योग्य स्वरूप के प्रकरण हो व दावे का मूल्य अथवा रकम 3000 रू. से अधिक न हो तो कोई अपील संस्थित नहीं होगी लेकिन अपवाद यह होगा कि अपील तब होगी जब **केवल विधि** संबंधी प्रश्न उपस्थित हो।

1983 म.प्र. वी. नो. 13 भरोसे वि. कोमलचंद के दृष्टांत की ओर पुनः ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा। जिसमें विधि प्रश्न क्या है बताया है। उसमें कहा है कि defendant alleging that his thumb impression on promissory note was obtained by mis-representation, Allegations could not be proved in the trial court. It was held that in the present care question of law is involved. धारा 100 (1) व्य.प्र.स. में भी द्वितीय अपील की ग्राह्यता हेतु 'विधि का सारवान प्रश्न' होना आवश्यक है। इस प्रकार विधि व तथ्य का मिश्रित प्रश्न भी सारवान प्रश्न ही कहलाएगा। अभी इस विषय पर केवल संक्षिप्त चिंतन आ. 14 नि. 2 की सीमा तक विधि प्रश्न के संबंध में दर्शाया है। फिर कभी धारा 96 (4) व्य.प्र.स. विषय पर चिन्तन करेंगे।

लेख के समापन के साथ कुछ दृष्टांत जो विविध प्रकार से आ. 14 नि. 2 व्य.प्र.स. का चिंतन प्रस्तुत करते हैं वे इस प्रकार है :–

Sugandh Chand Vs. Laxman Das, 1980 (2) M.P.W.N. 188 -

Preliminary issue regarding evidence cannot be tried as a preliminary issue.

NOTE- 213 : Preliminary issue : Mixed question of law and fact not a preliminary issue.

Shyam Sunder Vs. Hundi Bai, AIR 1989 M.P. 316 (Para 28) -

I am of the view that the pleadings raised by plaintiffs do require evidence which shall determine whether the suit was within limitation or not and all issues must be tried together.

Sunni Central Wakf Board Vs. Gopal Singh, 1991 All. 89 (FB); M/s Ram Dayal Vs. M/s Panna Lal, AIR 1978 MP 16 (DB) on reference.

Ashok Jagannad Vs. Narsingh Rao, 1986 MPLJ 666

Selected preliminary issue of law must relate to jurisdiction or a bar created by law. The general rule is that the Court has to pronounce judgment on all issues though a case may be disposed of on a preliminary issue. Departure is permitted only within the four corners of sub rule (2) of O. 14 R. 2.

Har Bhajan Singh Vs. Chandrakant Dwivedi, 1979 (2) M.P.W.N. 37 Issues neither question of law not mixed question of law and fact decided first, order bad in law.

Raj Kumar Vs. Dr. Bajrang Prasad, 1979 (2) M.P.W.N. 76 -

Issues should have been decided after the parties had led evidence. Trial Court deciding them first, order bad in law.

Sitaram Vs. Kachhrumal 1986 (1) M.P.W.N. 85 -

Question over valuation of suit relating to ouster of jurisdiction should be tried as preliminary issue. In the present case there was no question of fact to be decided for the purposes of valuation of suit.

Shri Ram Janaki Mandir Vs. Murti Shri Ram Janaki Laxman : 1986 (1) MPWN 104 -

Maintainability of suit challenged. Question should be tried as a preliminary issue. In the present case also there was no question regarding recording of evidence. **AIR 1973 All. 499 (Old Law)**

Under O. 14 R. 2 the Court is bound to try as a preliminary issue a question of law on which the entire suit may be disposed off but where the question is not purely of law or it is a mixed question of law and fact the Court has no jurisdiction to try that issue.

Dhanraj Jain Vs. Suraj Bai, AIR 1973 Raj 7 (Old Law)

Issue of law, the decision of which is likely to dispose of the whole suit may be tried as a preliminary issue.

1979 J.L.J. 720 (F.B.) Ramdayal Vs. Pannalal -

Civil P.C., 1908 - O. 14, R. 2 - issue regarding jurisdiction involving taking of evidence - cannot be decided as preliminary issue.

Under Order 14, Rule 2 C.P. Code, an issue relating to jurisdiction of the Court can be tried as a preliminary issue only if it can be disposed of without recording any evidence. If the issue about jurisdiction is a mixed question of law and fact requiring recording of evidence, the same cannot be tried as a preliminary issue. **1997 MPLJ 752, 1976 JLJ 693 & 1972 JLJ 448 overruled AIR 1964 SC 497, AIR 1976 All 201 & AIR 1976 AP 70** relied on.

दोस्तो आशा की जानी चाहिए कि आ. 14. नि.2 व्य.प्र.स. संबंधी मूलभूत चिंतन पश्चात यथा समय इस विषय को विस्तार से अध्ययन करने हेतु आधार तैयार होगा।

●

कार्य एवं समय का नियोजन

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

मेरे पास मेरी व्यक्तिगत पुस्तकें प्रबंधन, समय प्रबंधन एवं अन्य प्रबंधनात्मक विषयों पर पर्याप्त मात्रा में हैं। लेकिन मैं कोई भी पाण्डित्य (Pedentic) की बातें उन पुस्तकों के आधार से प्रस्तुत नहीं करना चाहता। साथ ही साथ मैं अव्यवहारिक आदर्श (utopian) का तत्वज्ञान बघारना (boast-ostentation) भी नहीं चाहता। वास्तविक व व्यवहारिक धरातल पर ही हम आप बातचीत, विचार विमर्श सूत्रबद्ध रूप से करेंगे। एक बात और। मई 1996 तक लगभग 28 वर्ष तीन माह तक जिसमें 4 वर्ष 6 माह का कार्यकाल जिला न्यायाधीश के रूप में व्यतीत किया है किसी एक भी प्रकरण में मेरी ओर से चार्ज, आरोपी–कथन (परीक्षण) वाद–प्रश्न, निर्णय अथवा आदेश के लिए कभी भी तारीख नहीं बढ़ाई है। जिस दिन के लिए उक्त में से जो कार्य निर्धारित किया है अवश्य हुआ ही है। यह बात प्रशिक्षण वर्ग में भी समय–समय पर बताई गई है। अतः यह बात कोरे आदर्श वाद, काल्पनिक रामराज्य की नहीं है। यह सब संभव है और यह तब संभव है जब हम समय प्रबंधन की ओर ध्यान देंगे।

दर्जी (टेलर) एवं स्वर्णकार इस बात के लिए जग में (कु) प्रसिद्ध है कि वे अपना कार्य कभी भी समय पर नहीं करते हैं अपितु वे कर ही नहीं सकते। ऐसा नहीं है कि उनके पास कार्य की अति अधिकता होती है अपितु यह दुर्गुण उनके व्यवसाय के साथ संभवतः स्वाभाविक रूप से जुड़ा है। क्या यह वस्तुस्थिति कहीं हमारे साथ भी तो निर्मित नहीं हो रही है। यदि ऐसा होगा तो वह स्वाभाविक क्रिया नहीं होगी अपितु आलस्य अथवा समय के कुप्रबंधन का वह परिणाम होगा। उन्मादयुक्त भय (Mania Cum Phobia) से हम पीड़ित होते हैं। जहां कहीं आपस में बातें होती हैं कुल मिलाकर सुविधाओं की अनुपलब्धि एवं यूनिट्स के विषय में ही चर्चा होती है। हर कोई यह बताता है कि मैंने इतने यूनिट्स दिए, मैंने इतने दिए। फिर हम यह भी बात करते हैं कि निराकृत प्रकरणों के यूनिट्स का मापदंड कितना अन्यायकारी कठोर आदि–आदि है। एक दूसरे के प्रति You are you and I am I, no body is like us के भाव के साथ स्वनाम धन्य अनुभव करके बिदा हो जाते हैं। यह ऐसा समय होता है जब आप समय प्रबंधन के विषय में चिंतन कर सकते हैं।

समाज के प्रति समय प्रबंधन :

सबसे पहली बात यह कि आपके पास आपका बक्सा पेटी (Confidential box) होना चाहिए। उसमें मैग्निफाईंग ग्लास (8–10 रु. में मिलता है) कैलक्युलेटर (100–125 रु. में मिलता है) पेन्सिल का कटर (1–2 रुपयों में मिलता है) पेपर कटर तुच्छ कीमत का) गोंद की ट्यूब रबर सूजा आदि (कार्यालय से प्रदाय होता है) उपलब्ध हो। आपके पास विभिन्न प्रकार की पोस्टल सामग्री (विभिन्न मूल्य के पोस्टल एवं रेवेन्यू टिकिट, अंतर्देशीय पत्र, पोस्टकार्ड, प्रतियोगी पोस्टकार्ड, लिफाफे, सादे लिफाफे विभिन्न आकार के लेटरपेड, ग्रीटिंग कार्ड, ग्रीटिंग पैड, ग्रीटिंग लिफाफे रंगीन पैकिंग पेपर व ब्राउन पेपर, मनी ऑर्डर फार्म गिफ्ट चेक विभिन्न मुद्रांको के गिफ्ट चेक, पैकिंग पेपर, सैलोटेप, छोटी कैंची, स्टेपलिंग मशीन, स्टेपल्स, स्केल आदि तत्सम वस्तुएं सतत् रूप से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हों। विभिन्न रंगों की स्याही के पेन डॉटपेन, पेन्सिल्स, हाय लायटर, ग्लोपेन्स भी हो। इसका परिणाम यह होगा कि सामाजिक व्यवहार में समय पर पत्र व्यवहार आदि किया जा सकेगा जिससे समाज के साथ आपके सामाजिक संबंध बने रहेंगे। ऐसे पत्र व्यवहार आदि के लिए इन वस्तुओं का तुरंत उपलब्ध होना आपका समय बचाएगा एवं मानसिक क्लेश, भाग दौड़ एवं उस कार्य के विचाराधीनता से (hang over) से मुक्त हो जाएंगे। आज का काम कल पर रखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

जिन निमंत्रण पत्रों के उत्तर देना है, साथ में भेंट भेजना है लेकिन अभी पर्याप्त समय है तब आप यह

कर सकते हैं कि उन्हें कैलेंडर पर बड़ी बड़ी दो हेयरपिन में अटका लें व डाक पहुंच पाने के समय का मूल्यांकन कर तदानुसार पत्र व्यवहार कर लें। जन्म दिन की बधाईयों के लिए भी बाजार में जिल्द की हुई 12 मास की पुस्तिका मिलती है उसे खरीद लें व आठ दिन अग्रिम उसे उस हिसाब से रोज देख लें। कैलेंडर पर भी आप अंकित कर सकते हैं।

एक बात और। पत्र कैसे घड़ी करना यह कला है। लिफाफे के आकार व पत्र का आकार ध्यान रखें व यह देखें कि कम से कम घड़ियां (फोल्ड्स) उस पर हों। ग्रीटिंग कार्ड लिफाफे में कैसे रखे जाते हैं यह भी ध्यान रहे। ग्रीटिंग का कव्हरवाला हिस्सा (मुख पृष्ठ) हमेशा पलटाकर लिफाफे में रखें जिससे लिफाफा गोंद लगाकर बंद करने पर यदि गोंद फैल जावे तो मुख पृष्ठ खराब न हो। गोंद कम से कम लगावें व ज्यादा चौड़ाई में न फैलाएं। यदि बुक पोस्ट से ग्रीटिंग मात्र भेजना हो तो लिफाफे के फोल्ड को केवल अंदर कर दें। चिपकाने पर तीन रुपये के टिकिट (वर्तमान दर) लगेंगे। बुक पोस्ट पर दो रुपये का टिकिट। टिकिट हमेशा लिफाफे पर अगले भाग पर दाएं ओर उपर के बाजू लगाएं। इधर उधर नहीं। क्योंकि पोस्ट ऑफिस में टिकिट निरसन करने वाला कर्मचारी दाएं हाथ में सील सिक्का रखकर निरसन की सील लगाता है। उसके काम में सुविधा होती है, द्रुत गति से वह कार्य कर सकता है। बुक पोस्ट की स्थिति में लिफाफे पर बुक पोस्ट लिखें। यदि सामग्री बुक पोस्ट की है तो ही बुक पोस्ट से भेजें। यह हमारी मानसिकता को प्रतिलक्षित करेगी व हमारे आचरण को जाहिर करेगी। लोग हमारा मूल्यांकन करते रहते हैं। प्राप्तकर्ता का पता व प्रेषक का पता पूर्ण व सुवाच्य हों। पोस्टमेन को आपके व प्राप्त कर्ता के विषय में न्यूनतम कल्पना होती है। यथा संभव पिनकोड क्रमांक डालें। पिन कोड क्रमांक की पुस्तक जिले के मुख्य पोस्ट ऑफिस से अवश्य खरीद लें। लगभग पच्चीस रुपयों की आती है।

गृह कार्यालय समय प्रबंधन :

उपरोक्त वस्तुएं घर पर तो होना ही चाहिए लेकिन स्टेशनरी मटेरियल जो उपर उल्लेखित हैं, के अतिरिक्त छोटे बड़े टैग, लेस, सूजा भी हो अनुपयोगी कागज जो पीछे से कोरे हों वे अवश्य रखें, काम आते हैं. स्टेशनरी पेपर की बचत होती है। ऐसे कागज फेंके नहीं, यह हमारा राष्ट्रीय अपव्यय होगा।

घर पर आपको कोरे कागज, कार्बन पेपर, जजमेंट पेपर आदेश पत्रिकाएं, (मूल व सतत्) आरोपी परीक्षण के फार्म, चार्ज फार्म, अपराध विवरण के फार्म, न्यायिक निरोध में भेजने के फार्म पदीय सील सिक्के, गोल सील हो। जिससे वक्त बेवक्त रिमांड कार्य सुगमता से हो। कभी–कभी देर रात को भी रिमांड हेतु पुलिस वाले आएं तो उनसे प्रेम से व्यवहार कर रिमांड पश्चात निवृत्त करें। संताप की आवश्यकता नहीं है। जिला न्यायाधीश के रूप में भी मेरे यहां ऐसा, कई बार हुआ है। निवासीय कार्यालय में आपको अधिकांश कार्य करना होता है। एक सफल न्यायिक अधिकारी का सबसे बड़ा राज ही यह है कि वह घर पर पूर्ण तैयारी कर लेता है। लड़ाई के लिए मैदान में पहुंचने के पश्चात बंदूकों की सफाई नहीं की जाती। आग लगने की सूचना आने पर वाटर टेंकर में पानी भरने की तैयारी नहीं होती है।

न्यायिक अधिकारी के घर में कोई आने के बाद ध्यान पुस्तकों की ओर जाता ही है व पुस्तकें देखी जाती हैं। उससे पता लगता है कि कौन किस चाहत का व्यक्ति है। आपको ड्राइंग रूम सजाने का शौक हो तो अवश्य सजाएं लेकिन एक बात हमेशा ध्यान रखें मुहावरें व कहावतें एक वाक्य में थीसिस कह देती हैं। वो बात यह कि उपर से बेल बूटा नीचे से पेंदा फूटा। सजा हुआ ऐसा घड़ा किस काम का हो सकता है। अतः इसका भी संतुलन हो। यह भी ध्यान रहे कि पुस्तकों की प्रदर्शनी पुस्तक विक्रेता लगाते हैं न कि उनका उपयोग करने वाले। पुस्तकों का अवश्य उपयोग करते रहें। समय–समय पर पुस्तकों के पन्ने पलटने (browsing) की आदत, भी हम डाल लें तो काफी मात्रा में जानकारी सहज उपलब्ध होती रहेगी। अतः सतत् उपयोगी पुस्तकें अपने पैसों से धीरे धीरे क्रय करते रहें। सबसे बहुमूल्य उपयोगी संग्रह होगा।

न्यायालय से प्राप्त प्रकरणों में घर पर कार्य कैसे करना इस विषय पर भी चिंतन कर लें। घर पर आने वाली फाइलों को तारीख वार लगा लें। अर्थात निकट (पास) की तारीख की फाईल सब से उपर व दूर की तारीख की फाइल सबसे नीचे। इस प्रकार क्रमवार फाइलें लगा लें। वाद–प्रश्न चार्ज आदि के प्रकरण ऐसे रहते हैं कि जिसमें कम से कम परिश्रम लगता है व कार्य करना भी आसान होता है। ज्योति जनरल में इन विषयों पर उपलब्ध प्रारूपों को मार्गदर्शन हेतु टेबल पर ही उपलब्ध करके रख लें। फायदा होगा। ज्योति के माध्यम से यह भी बताया है चार्ज बनाने के पूर्व जो टिप्पण (नोट्स) बनाना है उन्हें कैसे बनाया जावे। यह टिप्पण अपराधिक प्रकरण के फाईल कव्हर के ठीक अंदर पिनअप करके रख लें। साक्ष्य लिपिबद्ध करते समय प्रकरण समझने में तथा साक्ष्य पर नियंत्रण रखने में अत्यंत उपयुक्त होगा जिससे दीर्घ प्रतिपरीक्षण से बचा जा सकता है व इस कारण भी समय पर व फाईल पर हमारा अपना नियंत्रण होगा। निर्णय लिखते समय यह टिप्पण अत्यंत उपयोगी होता है। यही बात वाद–प्रश्नों के संबंध में भी कही जा सकती है। वाद प्रश्न बनाने की कला के विषय में भी विस्तार से लेख लिखा है, प्रारूप वाद प्रश्न भी बनाकर दिए हैं। म.प्र. व्यवहार न्यायालय अधिनियम के अंतर्गत बने नियम एवं आदेश 144 व 145 को प्रशिक्षण कक्षाओं में पारायण के रूप में समझाया है फिर भी पुनः पुनः समझ लें। कोई भी शार्ट कट हमेशा लाँग (कट) डिस्टेन्स मात्र सिद्ध होता है। अतः यदि आपने सहायता संबंधी दावे के अभिकथनों के आधार से वाद प्रश्न बनाने का दुःसाहस किया तो प्रकरण पर आपका नियंत्रण नहीं रहेगा। अतः घर पर ही वाद प्रश्न भी बनाएं व प्रकरण में दावा उत्तरवाद विलेख आदि आवश्यक तत्वों को देखकर वाद प्रश्न बना लें। जिससे साक्ष्य के दिन प्रकरण को सरसरी रूप से पढ़ने से भी विषय वस्तु स्पष्ट हो जाएगी, प्रकरण पर हमारा अपना नियंत्रण होगा, निरर्थक साक्ष्य लिखने से बचेंगे तो समय की बचत होगी व सभी परिणामजन्य लाभ भी प्रकरण के शीघ्र निराकर के साथ ही मिलते रहेंगे।

यही बात आरोपी परीक्षण हेतु बनने वाले प्रश्नावली के विषय में हो सकती है। वैसे तो आप रफ (कच्चे रूप से) प्रश्नों को उसी दिन टिप्पणी के रूप में बनाकर रख लें जिस दिन साक्ष्य हुई है व बाद में उन्हें विधिवत घटना क्रमानुसार सुघटित, सामेकित (Consolidate) कर लें या फिर सम्पूर्ण साक्ष्य हो जाने पर यथा समय कर लें। आदेश जो लिखना है उन्हें घर पर पढ़कर मन में सूत्रबद्ध कर लें। यहां ध्यान रहे कि जिन आदेशों में अपील होती है (देखें धारा 104 सहपठित आ. 43 नि. 01 व्य.प्र.स.) उन्हें कभी भी आदेश पत्र पर नहीं लिखा जाना है। जैसा कि नियम एवं आदेश सिविल में बताया है। उन आदेशों को भी आदेश पत्र पर मत लिखे जिनकी यद्यपि रिवीजन होना हो परंतु दीर्घ एवं विस्तार भरे हों।

निर्णय के लिए जो फाईल घर पर आएगी उसमें पैराग्राफ (आयटम) नम्बर 5 तक का निर्णय तो अंतिम तर्क होने के पूर्व ही लिख लें जैसे ही प्रतिवादी अपनी साक्ष्य समाप्त करें। दो फायदे हैं। प्रकरण की विषय वस्तु का पैरा 1, स्वीकृत तथ्य का पैरा 2, वादी का प्रकरण पैरा 3, प्र. वादी का प्रकरण पैरा 4, वाद प्रश्न पैरा 5 अग्रिम रूप से लिखने का फायदा यह है कि पर्याप्त समय पूर्व तथ्यों को शांति से पढ़ने से समझ में आ जाएंगे, जिससे तथ्यों को सारगर्भित संक्षिप्त (clear and lucid) रूप से लिखा जा सकेगा व दूसरा लाभ यह कि अंतिम तर्क के समय प्रकरण के तथ्य अच्छे से मालूम हो जाने से तर्कों को समझने व उनका रसग्रहण करने में, समीक्षा करने में आसानी होगी। यदि ऐसा हुआ तो निर्णय की गुणवत्ता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। यही बात अपराधिक प्रकरणों में भी कही जा सकती है। इसका एक लाभ यह होगा कि निर्णय/आदेश के लिए हमारी पूर्व तैयारी ऐसी होगी कि निर्णय/आदेश के चरण क्र. 5 तक लिखते–लिखते हम थकेंगे नहीं और फ्रेश मूड में (प्रसन्न चित्त) अच्छे गुणवत्ता का आदेश/निर्णय लिखा जाएगा। कोशिश करना; बड़ी सटीक व सही बात है। यह अनुभव करो, एवं परिणाम जो प्राप्त होंगे वे निश्चित ही आश्चर्यजनक होंगे गुणवत्ता भरे होंगे क्योंकि कुछ ही दिनों बाद आप देखेंगे कि ऐसा सब कुछ करने में परिश्रम ही नहीं लगता व हंसते खेलते बच्चे जिस प्रकार

सीख लेते हैं वैसे हम काम कर लेते हैं। इसके पीछे प्रगट रहस्य यह है कि हमने कार्य को विभाजित कर देने से श्रम विभाजन हो जाता है व थकान रहित परीश्रम अच्छे परिणाम दे जाता है जो आंधी तूफान पश्चात का सन्नाटा और नाश नहीं होता है अपितु सुखद बौछार दिसंबर जनवरी की (बरसात) होगी जो अच्छी फसल प्राप्त करने में मददगार होगी। प्रारंभ में यह सब अटपटा लगेगा, असुविधा होगी, कष्टदायक होगा लेकिन बाद में सुखद एवं परिणाम मूलक होगा। पंच कर्म हेतु अवकाश के तुरन्त बाद की तिथि न लगावें क्योंकि अवकाश के दिन घर पर कार्य नहीं हो पाता है।

घर में काम करने का समय क्या हो यह भी विचार की बात होगी। कुछ लोग देर रात सोते हैं तो कुछ सुबह जल्दी उठ जाते हैं। अपनी जैसी भी व्यवस्था हो वैसा करें। शाम के समय सामाजिक व्यवहार निभाने हेतु हो। लोगों का आना जाना रहता है। अतः आप रात 9 बजे बाद भी एक दो घंटों के लिए काम कर सकते हैं। सुबह कार्य करने हेतु भी जल्दी उठ सकते हैं जैसी भी स्थिति हो। परन्तु घर में काम तो करना ही है उसका कोई विकल्प नहीं है न यह ऐच्छिक ही है। छोटे बड़े आदेश, चार्ज, वाद प्रश्न, आरोपी कथन (प्रश्न) आदि तो फर्राटे से हाथ से लिखे जा सकते हैं व लिखना ही चाहिए। फायदा होता है। स्वयं हाथ से लिखो तो आदेश दीर्घ नहीं होंगे व सारवान तथा संक्षिप्त होंगे। पूर्व तैयारी से लिखेंगे तो मन ही मन में हमारा पूर्व चिंतन होने से किन बातों को लिखना, कैसे लिखना, किस प्रकार से संक्षिप्त करके लिखना इसकी भी कला विकसित होगी। आज ही एक मित्र न्यायाधीश कह रहे थे कि हम यद्ध छोड़ शेष सब कार्य युद्ध स्तर पर करते हैं। अर्थात समय पूर्व तैयारी नहीं रहती है समय व्यतीत होता है व कयामत का क्षण जैसे जैसे निकट आता है भाग दौड़ मचती है व तब युद्ध स्तर पर अर्थात शीघ्रता से जैसे तैसे कार्य पूर्ण करके उस्सास छोड़ते हैं और थक जाते हैं। अपनी उर्जा को हम नष्ट कर देते हैं। एक तर्क यह दिया जाता है कि साहब हमारा भी परिवार है उसकी कब देखभाल करें। सभी के परिवार है व कोई भी अपने परिवार की उपेक्षा नहीं करता न कोई कहता है कि ऐसा करो। ऐसे बहाने तो उन्हें करना पड़ते हैं जो अपने समय व कार्य का प्रबंधन नहीं कर पाते हैं। चिड़–चिड़ाहट झुंझलाना ये बातें इसी कारण उत्पन्न होती है। इसका दूसरा पक्ष देखने योग्य होगा कि जो न्यायिक अधिकारी होमवर्क नहीं करते है उनके न्यायालयों में क्या गति दुर्गति एवं अवनति होती है तो आईये अगले मुद्दे पर।

न्यायालयीन कार्य एवं समय प्रबंधन :

मित्रो! न्यायालयीन कार्य एवं समय प्रबंधन में प्रथम गुण यह है कि समय पूर्व न्यायालय में पहुंचना एवं समय पूर्व न्यायालय से नहीं जाना। एक साहब ने छोटे साहब से पूछा आप समय बाद आते हैं तो छोटे साहब ने कहा लेकिन सर मैं समयपूर्व तो जाता हूं। समय पाबंदी की बात आदर्श चिंतन अथवा कल्पना के रूप में नहीं बता रहा हूं। न्यायिक अधिकारीगण ऐसा जीवन जीते रहे हैं, जी रहा हूं। आजकल टेम्पो ट्रेक्स उपलब्ध हैं। लेकिन औसत कितने न्यायिक अधिकारी हैं जो ट्रेक्स आते ही बैठ जाते हैं, उसमें? दूसरी बात यह कि एक ही कॉलोनी में लगे लगे शासकीय आवास हैं तो क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक आवास के सामने ट्रेक्स खड़ी रहे? इसी में देरी होती है। अहम् टकराते हैं कटुता आती है, आगे कौन बैठेगा पीछे हम क्यों बैठें। जिससे भी बात करो उस न्यायिक अधिकारी का यही मत होता है कि यह व्यवस्था व्यवहारिक नहीं है। संभव है इस विषय पर हम सही हों परंतु जब तक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होता है तो क्या हम उस व्यवस्था के साथ सामंजस्य (एडजेस्टमेंट) नहीं कर सकते। अहं क्यों टकराता है? प्रशिक्षण सत्रों में भी यही स्थिति रही है। वास्तव में अहं निरंकुश प्रवृत्ति का सूत्रधार है। इस प्रवृत्ति को बदलेंगे तो क्लेश संताप कम होगा व मन काम में रमेगा। प्रशिक्षण काल में दैनंदिन रूप से श्याम पटल पर लिखे जाने वाले बोध वाक्यों में दो बोध वाक्य एक से अधिक बार लिखे गए थे। एक था" The race by vigour not by vaunts in won. अर्थात दौड़ (लक्ष्य) कर्मठता एवं ओजस्विता से जीती जाती है न कि हेकड़ी, घमंड और दंभ से। दूसरा बोध वाक्य था पद नहीं आपका

आचरण एवं व्यवहार आपको ऊँचा उठाता है। अतः इन तुच्छ बातों को प्रतिष्ठा का प्रश्न न बनाएं। ये सब सरकारी तंत्र की सुविधाएं हैं; आज है कल नहीं। चाणक्य ने अपने एक सूत्र में कहा है कि "पुरूषकारम नुवर्तते दैवम" अर्थात भाग्य (दैव) पुरूषार्थ के पीछे चलता है। टेम्पो ट्रॅक्स संस्कृति विकसित होने के पश्चात भी एक बहुत बड़ा वर्ग अभी भी टेम्पों ट्रॅक्स का इन्तजार किए सिवाए स्वयं अपने वाहनों से समय से बहुत पहले पहुंचकर कार्य कर लेता है। इस वातावरण को भी जागृत बनाकर रखना होगा। जिन न्यायिक अधिकारी गणों को यह शिकायत है कि उनके घर पर स्टेनो/टाइपिस्ट नहीं आता है उनके लिए भी यह विकल्प ज्यादा सुविधायुक्त होगा। स्वर्गीय श्रीमान जयवंत अनंत खरे, श्रीमान सैय्यद मोहम्मद आला हैदर हुसैन अबेदी सेवानिवृत्त जिला न्यायाधीश एवं न्यायाधिपति महोदय स्वर्गीय महादेव वामन देव को बहुत अच्छी अंग्रेजी टाइपिंग आती थी, वे सभी कार्य अपने घर पर स्वयं के टाईपरायटर पर स्वयं ही करते थे। ये न्यायाधीश अपने समय के निष्ठावान दृढ़निश्चयी (स्टालव्हर्ट) न्यायाधीश रहे हैं जिन्हें आज भी आदर के साथ याद किया जाता है।

समय पूर्व न्यायालय में पहुंचने का परिणाम यह होता है कि न्यायालयीन कर्मचारी वृंद समय पर आता हैं। ऑफिस का प्रशासनिक कार्य व विविध न्यायालयीन कार्य भी हो जाते है। एक बार अधिवक्ता गण जब अनुभव कर लेते हैं कि न्यायालयीन समय पर कार्य प्रारंभ हो जाता है तो उनका भी समय पर आने का सिलसिला शुरू होता है व इसका प्रत्यक्ष परिणाम सामने आता है। साक्षियों का परीक्षण एवं विभिन्न आवेदन पत्रों का निराकरण भी यथा समय निपट जाता है तथा औसतन हम अपने घर समय पर पहुंच जाते हैं। उर्जा का अनावश्यक व्यय नहीं होने से लाभ होता है। और आखिर कार यह हमारा कर्त्तव्य भी तो है ही।

ऐसा कभी न होने दें कि हम घर पर गृह कार्य न करें व न्यायालयीन समय मे चेंबर में या बोर्ड पर बैठकर वह कार्य करें जो हमने काफी समय पूर्व घर पर कर लेना चाहिए था। होता यह है कि जज़ साहेब 11 बजे यदि बोर्ड पर आते हैं तो सिविल रीडर अपनी फाईलें लेकर आएगा वो बताएगा कि दो प्रकरणों में वाद प्रश्न बनाना है, एक में आदेश एक में निर्णय देना है शेष प्रकरण साक्ष्य एवं तर्क के हो सकते हैं। यही बात क्रिमनल रीडर भी बताएगा कि दो प्रकरणों में चार्ज लगाना है, एक में आरोपी परीक्षण हेतु प्रश्न पत्र तैयार करना है, दो प्रकरणों में निर्णय देना है आदि। ऐसा काम देखकर न्यायाधीश मानसिक रूप से हड़बड़ा जाता है व कुछ भी काम ठीक से नहीं होता कार्यगुणवत्ता समाप्त होती है व लगभग प्रत्येक प्रकरण में तारीख बढ़ती है। यदि यह आज की स्थिति है तो कल और आने वाले प्रत्येक दिन की यह स्थिति अवश्यंभावी है और तब कोर्ट के कार्य की गाड़ी लाइन से उतर जाती है व प्रकारांतर से हमारी स्वयं की नौकरी की गाड़ी लाइन से उतरने में देरी नहीं लगती है। यह इसलिए होता है कि हम घर पर न्यायिक कार्य जो केवल हमें ही करना है नहीं कर पाते।

तारीखों का निर्धारित करना :

कार्य को नियंत्रित करने का यह सर्वोत्तम माध्यम है। न्यायालयीन कार्य जिसमें न्यायाधीश एवं पक्ष विपक्ष के अधिवक्ताओं का त्रिवेणी संगम होना आवश्यक हो उसमें तो हम धीरे धीरे अनुभव से व्यवहारिक चातुर्य के आधार से कार्य सामंजस्य स्थापित कर पाएंगे। लेकिन जो **पंच कार्य** (चार्ज, वाद प्रश्न, आदेश निर्णय एवं आरोपी परीक्षण) केवल हमें एवं हमें ही करना है के लिए न तो व्यवहारिक चातुर्य चाहिए न ही किसी सामंजस्य की समस्या होना चाहिए। निर्णय की व आदेश की तिथि मजे में 8–10–12 दिन की दी जा सकती है जिसमें हमें 15 दिन में निर्णय आदि देना है। चार्ज, वादप्रश्नों के लिए तिथियां मजे में 20–25 दिन की दें। यही बात आरोपी परीक्षण हेतु कही जा सकती है। ऐसा करने से लाभ ये होगा कि कार्य को हम इस प्रकार से विस्तार फैलाव (स्प्रेड ओव्हर) से कर देते हैं कि नियमित रूप से थोड़ा थोड़ा कार्य निपटता जाता है व बूंद बूंद से तालाब भरता जाता है। हमने जिस दिन किसी कार्य को करने हेतु तारीख निर्धारित की उस दिन प्रकरण आपके बस्ते में रखने

को रीडर को कहें जैसे वाद प्रश्न हेतु आज दि. 01.11.2000 को तिथि 20.11.2000 की निर्धारित की तो यह फाईल रीडर के पास रहेगी तो 20 तारीख को ही फाईल रीडर आपके सामने रखेगा तो हम कोरे के कोरे ही रह गए। लेकिन उसी दिन 01.11.2000 को या दूसरे दिन भी प्रकरण आपके बस्ते में आ जाता है तो आपको घर में या न्यायालय में जैसे ही कुछ समय फुरसत का मिले फाईल का अध्ययन आसानी से होगा।

जैसा कि एक सत्र में **माननीय मुख्य न्यायाधिपति श्रीमान भवानीसिंह महोदय** ने कहा था कि **कार्यालयीन समय आपका अपना समय नहीं है जनता के लिए समय है;** अतः ऐसा समय का सदुपयोग हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि 10–30 से 5.30 तक आपको मशीन की गति से कार्य करना होता है। यथा समय कुछ क्षण रेस्ट भी आवश्यक हो सकती है, किसी विशेष परिस्थिति में । कहने का आशय केवल यही है कि समय का अधिक से अधिक उपयोग हो। मैंने मेरी आंखों से ऐसी फाईलें देखी हैं जिसमें पीठासीन अधिकारी ने सेटलिंग डेट के लिए दो दो साल का समय दिया है एवं वादप्रश्नों के लिए भी ऐसा समय दिया है। आ. 16. नि. 1 व्य.प्र.स. के अंतर्गत 15वें दिन से अधिक का समय देने का अधिकार न्यायालय को है ही नहीं।

विधि का अध्ययन :

इस संस्थान में प्रत्येक बार यह कहा गया है कि न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति का यह अर्थ नहीं है कि अब हमें पढ़ना नहीं है व केवल निर्णय आदि कल्पनाओं के आधार पर लिखना है अपितु वास्तविकता यह है कि रोज ही हमें पढ़ना है व हर समय परीक्षा देना है। जो पढ़ा (?) वह केवल अर्हत योग्यता का प्रमाण पत्र था लेकिन सेवा में आने के बाद तो अब प्रकरणों में दूसरों की स्वतंत्रता, अधिकार, दायित्वों का निर्धारण सुनिश्चित करना है और ऐसा बिना विधि के विस्तारित जानकारी, न्याय दृष्टांत एवं विधि साहित्य पढ़े संभव नहीं प्रतीत होता।

ग्रन्थालय :

न्यायालयीन ग्रन्थालय संभवतः सुविधा संपन्न नहीं हो, लेकिन जो सुविधाएं उपलब्ध हैं उसका हम कितना उपयोग कर लेते हैं। सर्वसाधारण न्यायिक अधिकारी तो छोड़ें लेकिन जो न्यायिक अधिकारीगण उसके प्रभारी हैं उन्होंने ही उसका कितना उपयोग पढ़ने लिखने के लिए किया याकि उस ग्रन्थालय के संबंध में प्रशासनीय कर्त्तव्यों का निर्वाह किया? ये सब बातें तो आत्म परीक्षण की हैं। हमें अपनी निजी लायब्रेरी अपने निजी पैसों से धीरे धीरे विकसित करते रहना है। बड़ा आसान काम होगा। चुनिंदा, श्रेष्ठ, विशिष्ट पस्तकें धीरे धीरे एकत्रित करते रहें। एक बोध वाक्य यह कि शहर के अच्छे लोगों की तलाश करना हो तो पुस्तकों की दुकान पर चले जाईये। हम यदि सूट–बूट, टिप–टॉप रहने पर पैसा खर्च करके दिखावटी रूप धारण कर सकते हैं, उपभोग संस्कृति के वातावरण में ऐसी वस्तुओं पर पैसा खर्च कर सकते हैं तो वास्तविकता को स्वीकार करते हुए उपयोगी पुस्तकें भी खरीद सकते हैं। रोज लगने वाली पुस्तकें त्वरित रूप से अपने पास उपलब्ध हों तो फुरसत के क्षणों में केवल पन्ने पलटते रहिए बहुत सी बातें सहज रूप से बिना प्रयास के पता लगती रहेगी।

संबंधों का निर्वाह :

पदीय गरिमा को बनाए रखते शिष्ट व्यवहार पक्षकारों के साथ वकील व कर्मचारीवृंद के साथ करना कला भी है व कर्तव्य है। इस संबंध में भी संस्थान में वरिष्ठ जनों ने समय–समय पर बताया है। यह कार्य कर्तव्य युक्त कला है अतः उसे धीरे धीरे विकसित करना होता है। यह कार्य नील के घोल में कपड़े डालकर सफेद कपड़े करने जैसी बात नहीं है। कर्मचारी वृंद जो हम आपकी सेवा में सतत् लगा रहता है व हमारे कर्तव्यों को पूरक रूप से पूर्ण करता है को विश्वास में रखें तो वातावरण सुखद होगा। हर अच्छी बात का परिणाम सुखद होगा चित्त को प्रसन्नता देगा।

कर्मक्षेत्र की परिधि से बाहर झांकना :

Keoin Paul Flin ने अपने विचारों को व्यक्त करते कहा था कि निर्धारित पाठ्यक्रम एवं निर्धारित कर्तव्य जनिक कार्य (कर्मक्षेत्र) के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में ज्ञानवर्धन कितना उपयोगी है। सूत्र वाक्य में यह कहा गया कि,

"Developing one's Competence and interest outside of one's place of work and studying for recognised professional qualifications increases employability both externally and interanlly. It also, at the same time, leads to more effective performance in one's current job which, of course, further increases employability."

समय परिवर्तित हो रहा है तरूणाई को अकाल वृद्ध नहीं होना है। क्रांतिकारी परिवर्तन उन्हें करता है। उनमें इच्छा शक्ति है, कर्मठता है, ओजस्विता है, लक्ष है,उद्देश्य है। अतः हमें न्यूनतम सुविधाएं उपलब्ध हैं यह रोना रोने की आवश्यकता ही नहीं। हर काल, समय व पीढ़ी के साथ यही शिकायत रहती है। जो सुविधाएं 30 साल पूर्व नहीं थी वे हमारे देखते–देखते विपुल मात्रा में मिलती गई हैं। किसी समय केवल जिला न्यायाधीश हेतु टाईप राइटर था, हमारे समय में सेवा के 12वें साल टाईप राईटर मिला। अब पीठासीन अधिकारी नियुक्त होकर प्रथम बार स्वतंत्र प्रभार के रूप में बैठता है तो टाईप राईटर है। दूसरे दृष्टिकोण से देखा जावे तो यह भी तो कहा जा सकता है कि समस्त सुविधाओं को उपलब्ध कराने के बाद भी काम तो हम आपको ही तो करना है। वास्तव में समय के साथ हम सुविधाओं के गुलाम बनते हैं जबकि सुविधाएं हमारी दक्षता के लिए साधन मात्र है। न्यायिक अधिकारी के रूप में इस विभाग में हमारा प्रवेश हमारी इंच्छा से हुआ है न कि संयोग से (by choice and not by chance) लेकिन हम लोग सहज भाव से कभी–कभी सही बोल जाते हैं कि अरे यार! बस फार्म भर दिया था, परीक्षा में बैठे पास हो गए और सिविल जज बना दिए गए। अहो–भाग्य। उन्हें हार्दिक शुभेच्छाएं भी। कहावत है भीख की हांडी बार बार छींके पर नहीं चढ़ती। जो न्यायिक अधिकारी आयु से बहुत ज्यादा नहीं हुए है उन्हें समय के साथ समय रहते कम्प्यूटर का कार्य भी आना आवश्यक है। अंग्रेजी का मूलभूत ज्ञान पढ़ने, लिखने व समझने की सीमा तक आवश्यक है। परिवारों में छोटे छोटे बच्चों को अंग्रेजी स्कूलों में भेजने का प्रचलन है शौक है व इसके पीछे मुख्य उद्देश्य यह है कि हमारे बच्चों को बहुत उच्च ज्ञान प्राप्त हो शैक्षणिक दृष्टिकोण से बढ़चढ़कर हो तो हम आप को क्या हो गया है कि हम ऐसे न हों। केवल इसलिए की नौकरी लग गई है तो हटाने वाला कोई नहीं हो सकता। यह नकारात्मक चरित्र ही हमें प्रगति पथ पर अग्रसर होने में बाधक बन रहा है। इसलिए इस क्षेत्र में हमारा सोच विकसित होना चाहिए।

समापन :

हम आप के बीच यह सकारात्मक सुखद संवाद थोथा, कोरा उपदेश नहीं है, इस पथ से गुजरे लोगों को देखा है, स्वयं का अनुभव है, आर्तनाद है, विभाग के प्रति आस्था है, राष्ट्र धर्म का कर्तव्य बोध है, सहयोगी भाई बहनों के प्रति शुभं करोति कल्याणं का लक्ष है इसलिए यह चर्चा आपसे करने का साहस जुटाया है। चाणक्य सूत्र के दो सूत्र हैं। प्रथम सूत्र है "अग्निमिच्छता धूपस्त्यज्यते"। अर्थात सत्य के साथ अश्रद्धेयता तथा अमान्यता नियम से लगी रहती है। साधारण लोग अव्यवहार्य आदर्श (utopia) कहकर बच जाते हैं। सत्य का यह अनादिकालीन दूषण है कि वह सर्वसाधारण को अपने लिए हानिकारक और प्रतिकूल लगता है। दूसरा सूत्र है "अप्रियस्यच पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः"। अर्थात कटु सत्य के श्रोता एवं वक्ता दोनों ही दुर्लभ होते हैं। ऐसे ही लोग सत्य सुनने और सुनाने के यथार्थ अधिकारी होते हैं। सत्य की कटुता मानने वाले लोग सत्य के अधिकारी हैं।

दोस्तो। यह कोई सत्य या कटु सत्य की घूंटी नहीं है अपितु व्यवहारिक वास्तविकता है जिसे भोगा व अनुभव किया है जिसकी एक छोटी सी अभिव्यक्ति करने की इच्छा भर है।

EFFECT OF NON-APPERANCE OF COMPLAINANT AND STOPPING OF THE PROCEEDINGS

P.V. NAMJOSHI,
Director.

Judicial Officers during their training use to ask one question frequently regarding closing of the cases where the complainant is absent or prosecution is not taking steps to summon the evidence in summons cases.

A Judicial Officer by his letter wrote me that he finds it very diffult to proceed with the cases u/s 256 or 258 instituted otherwise than on police report, in particular summons cases where the cases are being filed by Excise and Forest Officers. There are different cases from different departments; like Income Tax Department, Food and Civil Supplies Department and other departments also. In this regard I will try to state few lines. The idea behind it is to guide the Judicial Officers academically. But this approach in itself is not final. One has to study the case law, the file and has to go through the commentaries on the relevant sections. My views may lead and but should not base their Judgment on the stated views. This is just an academic discussion.

Under old and new law, in substance, the provisions are same. The provisions are reproduced here in comparitive chart :-

CR.P.C. 1898 (OLD LAW) SS. 247 & 249

247. NON-APPEARANCE OF COMPLAINANT : If the summons has been issued on complaint, and upon the day appointed for the appearance of the accused, or any day subsequent there to which the hearing may be adjourned, the complainant does not appear, the Magistrate shall, notwithstanding anything here in before contained, acquit the accused, unless for some reasons he thinks proper to adjourn the hearing of the case to some other day :

(Provided that where the Magistrate is of the opinion that the personal attendance of the complainant is not necessary, the Magistrate may dispose with his attendance and proceed with the case).

CR.P.C. 1973 (NEW LAW) SS. 256 & 258

256. NON-APPEARANCE OR DEATH OF COMPLAINANT : (1) If the summons has been issued on complaint, and on the day appointed for the appearance of the accused, or anyday subsequent thereto which the hearing may be adjourned, the complainant does not appear, the Magistrate shall, notwithstanding anything herein before contained, acquit the accused unless for some reason he thinks it proper to adjourn the hearing of the case to some other day :

Provided that where the complainant is represented by a pleader or by the officer conducting the prosecution or where the Magistrate is of opinion that the personal attendance of the complainant is not necessary, the Magistrate may dispense with his attendance and proceed with the case.

(2) The provisions of sub section (1) shall, so far as may be, apply also to cases where the non appearance of the complainant is due to his death.

249. POWER TO STOP PROCEEDINGS WHEN NO COMPLAINANT

In any case instituted other wise than upon complaint, a Presidency Magistrate, Magistrate of the first class, or with the previous sanction of the District Magistrate, any other Magistrate, may for reasons to be recorded by him, stop the proceedings at any stage without pronouncing any judgment either of acquittal or conviction, and may thereupon release the accused.

258. POWER TO STOP PROCEEDINGS IN CERTAIN CASES :

In any summons-case instituted otherwise than upon complaint, a Magistrate of the first class or, with the previous sanction of the Chief Judicial Magistrate, any other Judicial Magistrate for reasons to be recorded by him, stop the proceedings at any stage without pronouncing any judgment and where such stoppage of proceedings is made after the evidence of the principal witnesses has been recorded, pronounce a judgment of acquittal, and in any other case, release the accused, and such release shall have the effect of discharge.

REPORT OF POLICE OFFICERS IN NON-COGNIZABLE OFFENCES : HOW TO BE DEALT WITH :-

A report by a police officer in a non-cognizable case, investigated without prior permission of the Magistrate is a complaint and S. 256 would apply to such a case. ***State Vs. Thankappan, 1973 Ker L.T. 622.***

Under New Code, reports submitted by the police officers in non-cognizable cases are now complaints for the purposes of this section. In such cases who is real complainant can be very well judged from the report (complaint) of the police officer. If the complaint is filed by the servant and thereafter at some stage of proceedings he leaves his job, it is the duty of the master to look after and attend the case.

Again a case investigated on a report by the police officer if the police finds that the offence made out is non-cognizable and files a chargesheet, such charge sheet is not covered by S. 247 (256 new) of the Old Cr.P.C. The word "Complaint as defined in section 4 (1) (h) (old Act) does not include the report of the police officer if it relates to non-cognizable offence. ***State Vs. Abdul Rashid, 1963 JLJ 28.*** But now under the definition of 'complaint' u/s 2 (d) of the new Code, there is one explanation which runs as follows :

> "A report made by a Police Officer in a case which discloses after investigation, the commission of a non-cognizable offence shall be deemed to be a complaint : and the police officer by whom such report is made be deemed to be the complaint."

Previously under Section 4 (h) of the Cr.P.C. 1898 the word "Complaint" was defined in this manner:

> "Complaint means the allegation made orally or in writing to a Magistrate, with a view to his taking action under this Code, that some person whether known or unknown, has committed an offence, but it does not include the report of the police officer."

Thus under New Code the report by Police Officer in non-cognizable offence is covered under the definition of Complaint. It is general experience that the police or the public servants who have authority to file complaints do file charge sheets or complaints but follow-up action is not taken by these departments. What they do is they file the charge-

sheet or the complaint before the Courts and leave the whole matter in the hands of the Judicial Officers. As the poet sang :

"Bowed by the weight of centuries he leans Upon his hoe and gazes on the ground,
The emptiness of ages on his face, And on his back the burden of the world."

In fact it is the duty of the police and the complainant to comply with the orders of the Court and to get the summons, bailable warrants or warrants of arrest, served, get the witnesses produce before the Court either through the help of the Court or of their own accord. In fact it appears that the function of the Court is to help the police or complainant in getting summons or warrants as the case may be issued by the Courts. No doubt there is a Court Munshi deputed by the concerned district police for issuing summons etc. as per the orders of the Court.

Following is a citation in this regard. It is as under :

NOTE : *State of M.P. Vs. Kalu, 1973 JLJ (D.B.)* Please also see other citations referred to in **2000 (2) JOTI from pages 170 to 180.**

Chapter No. 20 of the Cr.P.C. deals with trials of summons cases by Magistrates. It contains nine sections, sections 251 to 259. The corresponding chapter in the 1898 Code (old), also chapter 20, began with sections 241 to 250. There are two sections namely 256 (247 old) and 258 (249 old) which deals with non appearance or death of complainant and power to stop proceedings in certain cases respectively.

First, we shall analyse the provisions of S. 256 and then the provisions of Section 258. We have already reproduced the provisions here in the article. Section 256 Cr.P.C. empowers the Magistrate with three different powers on default of the complaint's appearance, he may either dismiss the complaint and acquit the accused or adjourn the hearing. The Magistrate may dispense with his attendance and proceed with the case. First two powers can be exercised even when the complainant is dead. One need not mention that such power is to be exercised with judicial discretion and not arbitrarily. Wide discretionary power is vested with the Magistrate u/s 256 and a heavy responsibility rests on him in deciding whether to adjourn the case or to record the order of acquittal in the absence of the complainant on the first day of hearing. **There is no law under which the complainant may be forced to appear in the court. No process, much less a warrant for arrest can be issued for enforcing such attendance. (*Kalicharan Dixit Vs. Gur Dayal, 1961 JLJ 1246*)**. In that case it was further held that the Magistrate allowed his discretion to out run the case.

IF THE SUMMONS HAS BEEN ISSUED ON THE COMPLAINANT :-

The first part of section 256 deals with the issuance of summons. Section 251 speaks about the appearance of the accused before the Magistrate. That is the earliest stage when the case comes up for hearing and if the complainant is absent on that date, the Magistrate will have jurisdiction to acquit the accused or deal with the case according to the provisions contained u/s 256 Cr.P.C. Therefore, summons should have been served on the accused first. If we consider the case of ***Kumbhar D Kalubhai Vs. Patel Ganeshbhai, AIR 1969 Guj 176,*** it will reveal that having regard to the placing of the section in the chapter, that an accused may be acquitted under Section 256 when the stage of recording of evidence referred to in section 254 is reached. It is true that there is

nothing in it to justify the view that it is only when the stage for the recording of evidence is reached that the Magistrate can, in the absence of the complainant take steps u/s 256. However, the spirit underlying the ruling appears that merely because complainant is absent complaint should not be dismissed and accused acquitted but the Court should see that whether the complaint cannot proceed in the absence of the complainant. If complaint can proceed Magistrate should not acquit the accused. Please refer to ***State of M.P. Vs. Abdul Quadir Khan, 1962 JLJ 1140.*** Thus the dismissal of the complaint on account of complainant's absence is not, therefore to follow as a matter of course. The Magistrate should apply his reason and consider whether the attendance of the complainant is necessary on that date and whether it would be proper to adjourn the case. ***State of Rajasthan Vs. Trilok Singh, 1977 Cr.L.R. (Raj).*** Thus this section invests in a Court a discretion. In matters of this the real test will be good faith.

DISCHARGE UNDER THIS SECTION (256) :-

This section does not provide for discharge. The accused should either be acquitted or the case be adjourned for some reason, as the Magistrate thinks proper. Even dismissal of the complaint or consigning the record to the record room tantamounts to acquittal, The case cannot be received by the Magistrate subsequently. In such cases the order of discharge should be treated as an order of acquittal. (***Hardayal Singh Vs. Bhajan Chandra Saha, AIR 1961 Tripura 41***).

REASONS FOR ADJOURNMENT :-

If the Magistrate has exercised his discretion in a proper manner in favour of adjournment of the case, he is not required to record for doing so, the expression used being "for some reasons he thinks proper" and not "for some reasons to be recorded". ***Premnath Khanna Vs. Chief Inspector of Factories. 1963 All L.J. 989.*** The Magistrate in his discretion can acquit the accused or adjourn the case. The order should show that the wide discretion has been properly exercised. ***Nituchand Samal Vs. Naraprasad, 1982 Cr.L.J. 927 (Orissa).*** However, it is always better to assign reasons for adjouring the case or acquitting the accused as the parties have a right to know the reason which prevailed in the mind of the Magistrate.

PRESENCE OF THE COMPLAINANT

The word" if the complainant does not appear" should mean as signifying if the complainant, having knowledge or information of the date. Magistrate should satisfy himself about the fact before the accused is acquitted.

WHEN THE ABSENCE OF COMPLAINANT WILL NOT ENTITLE THE ACQUITTAL OF THE ACCUSED :-

The dismissal and acquittal of the accused on account of the complainant's absence is not to follow as a matter of course (discussed above). Where a complainant has done all that is necessary for him to do to establish his case, the complaint ought not to be dismissed in default of his attendance unless he is specifically directed to be present. When a case has been adjourned several times and no evidence was recorded in the case despite the lapse of more than years from the institution of the case, the dismissal of the case on the ground of absence of the complainant and his lawyer on the last day was perfectly justified. (***State of Rajasthan Vs. Chunnilal, 1982 Raj. Cr. Cases 176***). If the

Magistrate does not adjourn the case, he must record reasons therefore, (***Agricultural Produce Market Committee Raichur Vs. S.S. Tandur (1980) 2 Kar L.J. 341***). If the complainant is exempted and allowed to be represented through his advocate the accused cannot be acquitted In a case the complainant sent an application for exemption for his personal appearance but the Magistrate did not grant the prayer nor did he choose to adjourn the case and the accused were acquitted the acquittal was upheld in ***State Vs. Harphool, 1978 Cr.L.J. (Raj) 668.***

If evidence is completed and on the date fixed for arguments the complainant did not appear case cannot be dismissed and accused cannot be acquitted as there is no provision in summons case for the hearing of arguments though arguments are heard. (***State Vs. Jagatram Sahu, 1973 Cr.L.J. 295 (Orissa).*** Same is true when the case is fixed for judgment. ***Emperor Vs. Janga Singh. AIR 1923 Nag. 158.***

Section 256 (1) makes no difference between a private complaint or where a complainant is public servant, in every case the complainant has to be deligent about the progress of the case from time to time. ***State of Orissa Vs. Birendra Kishore, AIR 1964 Orissa 231 (232).***

ABSENCE OF WITNESS -

Jurisdiction under this section can be exercised only on the absence of complainant on the date referred to in the section. Absence of witnesses would not justify an order under this Section. ***Darbarilal Vs. State, 1971 All Cr.R. 585.*** If part of the evidence is already on record and the Magistrate rejects the application for adjournment for production of remaining evidence, he should proceed to decide the case on a consideration of evidence already on record. He cannot acquit the accused under this section. ***Khatu Pradhan Vs. Basudev Swam, (1973) 2 Cut. W.R. 1405.***

In ***State of M.P. Vs. Abdul Quadir Khan, AIR 1963 MP 124= 1962 JLJ 1140,*** on three dates the complainant was present but the accused not, on the fourth date also the accused was not present. The complainant was also absent and the Magistrate acquitted the accused. It was held that the order of the Magistrate was unjust and improper. The complainant was not required to do anything. His presence could have been dispensed with. In ***Radha Krishandas Vs. Mrutunjay Das, 1990 Cr.L.J. 2363 (Orissa)*** No. direction was given to the complainant to produce witnesses and the Magistrate acquitted the accused. The acquittal was set aside. In ***State of Maharashtra Vs. Kishore, 1990 Cr.L.J. 1156 (Bom),*** it was held that non-appearance of prosecution witnesses is not a ground by itself to acquit the accused.

DISMISSAL OF COMPLAINT FOR FAILURE TO PAY PROCESS FEES :-

A complaint cannot be dismissed and the accused acquitted for failure to pay process fees. Section 204 of Cr.P.C. deals with issuance of process. Section 254 also deals with procedure of recording and summoning of the evidence.

CONSIGNING THE CASE TO RECORD ROOM : EFFECT OF :-

When the summons has not been served on the accused complaint cannot be dismissed not it cannot be consigned to the Record Room on the ground that the complainant has not appeared on the date fixed for hearing because the opening words of Section 256 Cr.P.C. say that "if the summons has been issued on the complainant, and on the day

appointed for the appearance of the accused pre-supposes that the accused should be served first and he should appear in the Court only then the provisions of Section 256 regarding acquittal of accused or postponement of the case may come into play. An order temporarily consigning the record to the record room as the accused could not be served passed in the presence of the complainant cannot be treated as an order acquitting the accused under this section. ***Radha Krishna Vs. State of Rajasthan, AIR 1964 Raj. 216.***

DISMISSAL OF COMPLAINT BY MISTAKE :-

The Section empowers the Magistrate to acquit the accused if on the date fixed for the appearance of the accused or on any subsequent date the accused appears and the complainant does not, but by mistake, the case is put up for hearing on date earlier than the date fixed for the purpose and the complainant is absent and the Magistrate dismissed the complaint resulted in the implied acquittal of the accused, the order passed would be nullity. The order being a nullity the Allahabad and Madras High Courts have held that the Magistrate may ignore such an order and either accept a fresh complaint and proceed with it, or ignore the order passed by mistake and take up the very same case for hearing on the correct day of apperaing and to the same effect. These are the views of the different High Courts. The Orissa High Court has also taken the same view that where the order of acquittal was passed on a date fixed neither for the appearance of the accused nor for the hearing of the case, the order was without jurisdiction and a nullity. The Magistrate could therefore, ignore that order and revive the proceedings.

DEATH OF THE COMPLAINANT : EFFECT OF :-

Sub-clause (2) to Section 256 says that the provisions of sub section (1) so far as may be, apply also to cases where the non appearance of the complainant is due to his death. But again this is subject to certain restrictions. The general view taken regarding the effect of the death of the complainant is that even in case of non-cognizable offences instituted upon a complaint, it is within the discretion of the trying Magistrate in proper cases to allow the complainant to continue by a proper and fit person if he is so willing. ***Mohd. Azam Vs. Emperor, AIR 1926 Bom 178, Subbhamma Vs. Kannappachari, AIR 1969 Mysore 206 and Anand Rao Vs. Gadi, AIR 1932 Nag 72.***

There are certain cases in which the complaint was permitted to proceed after the death of the complainant. However, in ***Subbana Hedge Vs. Dayanappa Gowda, 1980 Cr.L.J. 1405*** it was held that on the death of the complainant his son has no right to continue with the summons case. In **Bontu Appalla In re AIR 1928 Mad 167,** it was held that in a summons case it would be illegal for the Magistrate in the circumstances to grant an adjournment to enable the deceased complainant's son to come on record and to proceed further with the enquiry. Where in a case of defamation alleged against the complainant in his public capacity and also against police complaint in general the complainant died, it was held that it was a proper exercise of discretion not to discharge the accused but to continue the trial. Sub-section (2) may be interpreted to mean that if the complainant dies at a stage when he has yet to produce his evidence and his pleader or other officer conducting the case on his behelf is not able to proceed with the case. In his absence, the accused will be acquitted but where nothing remain to be done by or on behalf of the prosecution. The complainant's personal appearance may be waived and the case may proceed.

The words "so far as may be" used in sub section (2) apply to cases when due to death of the complainant he remains absent the words "as far as may be" suggest that the Magistrate will have to decide having regard to the facts and circumstances of each case. This section does not require that in summons case the accused must necessarily be acquitted on the death of the complainant. When the brother of the complainant who is equally interested in the matter desires to carry on the death of the complainant at the stage of arguments he should be allowed to do so. It is absolutely the discretion of the Magistrate.

PROVISO TO SECTION 256 :-

The proviso to Section 256 says that where the complainant is represented by pleader or by the officer conducting the prosecution or where the Magistrate is of the opinion that the personal attendance of the complainant is not necessary, the Magistrate may dispense with his attendance and proceed with case. Therefore, the Magistrate has to see the circumstances of each case, the stage of proceedings reached and the reasons for the absence of the complainant also. Merely because the complainant is absent this itself will not be a ground for acquitting the accused. Therefore, the Magistrate has to exercise judicial discretion in this matter. Please refer to ***Union of India Vs. Laxman, AIR 1962 HP 57.*** The Magistrate should not acquite the accused person merely on account of the absence of the complainant. ***Chinnam Ramnath Parto Vs. Chandramma guni, AIR 1963 Orissa 90 at page 93.***

WHO IS REAL COMPLAINANT :-

The true legal principle is that the Court is entitled to find out who is the real complainant and who has to complain fully. And as a matter of substance once the complainant has been found and identified to be the Company representative by an agent, there seems to be no impediment in the matter of continuance of the complainant on his seizing to be the employee of such company by yet another duly constituted power of attorney, the rigour of original rule has gone by the process and the whole thing is left to the discretion of the Court.

SECTION 258 :-

Now let us see the provisions of Section 258 Cr.P.C. This section refers to stopping the proceedings in certain cases. The opening sentence is "in any summons case instituted otherwise than upon a complaint". Thus the provision applies to summons cases only. Secondly it applies to cases instituted otherwise than a complaint. It means if the case is instituted upon a complaint the provisions of Section 258 are not applicable. Therefore, the simple interpretation would be, this provision applies to cases where the police has filed charge-sheet. Where as Section 256 applies to cases instituted by the complainant and not by the police. But it should be noted that there are Special Acts in which certain provisions are enacted by which it seems that these cases should be deemed to be instituted on police report.

The first problem posed was when the Excise Officer files a complaint, the provisions of S. 258 (Old 249) are not applicable because that section is not applicable to cases instituted upon a complaint. The opening words of S. 258 are as under : "In any summons case instituted otherwise than upon a complaint....". My humble submission would be the Judicial Officers while dealing with cases should not only go through the concerned pena

provisions of the concerned Act. The Judicial Officers should be well aware of the complete Act under which they are trying a criminal case and should have whole picture of the relevant provisions. It is requested to look to the provisions of Section 56 of the M.P. Excise Act. In the old Madhya Bharat Act also there was an equivalent provision under Section 61 of the Madhya Bharat Excise Act. The provisions are shown as under :

MADHYA BHARAT EXCISE ACT

Section 61 of the Excise Act runs as follows :

"If on an investigation by an Excise officer empowered under S. 60 sub section (1), it appears that there is sufficient evidence to justify the prosecution of the accused, the investigating Officer, unless he proceeds under Sec. 60, sub-sec (3) shall submit a report (which shall for the purpose of S. 190 of the Code of Criminal Procedure, be deemed to be a police-report) to a Magistrate having jurisdiction to inquire into or try the case and empowered to take cognizance of offences on police-reports."

M.P. EXCISE ACT

Sec. 56. REPORT BY INVESTIGATION OFFICER :-

If on an investigation by an Excise Officer empowered under sub-section (1) of Section 55, it appears that there is sufficient evidence to justify the prosecution of the accused, investigating officer, unless he proceeds under sub-section (3) of section 55, shall submit a report which shall for the purposes of section 190 of the Code of Criminal Procedure, 1973 (No. 2 of 1974), be deemed to be a police report to a Judicial Magistrate having jurisdiction to inquire into or try the case and empowered to take cognizance of offence on police reports.

If we go through few citations it will be very clear that a complaint filed under Excise Act is deemed to be a report under Section 190 of the Code of Criminal Procedure, Therefore, the procedure regarding complaint cannot be made applicable to such cases. ***State Vs. Ramkrishna, 1960 JLJ 1173, State Vs. Nanda Singh, 1958 JLJ 150, State Vs. Shrivishnu, AIR 1956 Ajmer 24.*** If required every Act makes such type of provision. For example police exercising powers under the M.V. Act files a report to the Magistrate, it is not a complaint but a charge-sheet. ***State Vs. Abdul Quadir, 1962 JLJ 1140, State Vs. Angad, 1965 MPLJ Note 50.*** (I hope this need not be supported by several citations which are at my hand.)

Thus before exercising powers under Section 256 or 258, the Judicial Magistrate should consider the special provisions made under law in which he is exercising the powers.

The second aspect is powers of the Magistrate are two fold. Judicial Officers are empowered with two powers. The first is, "the Judicial Magistrate, may, for reasons to be recorded by him, stop the proceedings at any stage without pronouncing any judgment. Secondly, and where such stoppage of proceeding is made after the evidence of principal witnesses has been recorded, pronounce a judgment of acquittal. Thus the Magistrate may pronounce a judgment of acquittal or may stop the proceedings.

PURPOSE OF THE SECTION :-

It is said that it is a matter of doubt whether the section was intended to be applied to cases in which there are no special or unusual circumstances which make it difficult or impossible or even highly undesirable to proceed in the normal way under section 256 (1)

and (2) (Section 245 old) and arrive at a finding on the guilt or innocence of the accused. Section 255 (1) and (2) relates to acquittal or conviction after evidence is recorded. The evidence is to be recorded as per the provisions of Section 254. Please refer to **1983 Cr.L.J. 1309 (1314)** and **Jagmal's case, AIR 1950 Pun 83. Santhamma's case, 1981 Cr.L.J. 247 (Kar).** Section 258 can be applied at any stage of the proceedings and it is not necessary that before a Magistrate can do so he should follow the procedure contained in sections 251 to 254. This can be applied to one of a number of accused against no case is made out at all.

STOPPING PROCEEDINGS :-

The power under this section should be very sparingly used. It applies in special circumstances. On perusal of the judgment **Marot Rao Ganpat Rao 's case** followed in ***State of Gujarat Vs. Sanghar Ibrahim Lodha, AIR 1971 Guj 503.*** While dealing with section 249 of the old Code, which is analogous of Section 258 of the new Code, it is laid down in that case that the discretion to stop proceedings without first hearing the accused and the complainant can be exercised only in exceptional circumstances and only such exceptional circumstances may arise in a case in which not even a prima facie case is made out against the accused or the accusation may not actually constitute any offence or the prosecution. For example under Section 167 (5) and (6) of the Cr.P.C. Please refer to ***State of Karnataka Vs. Subramaniyam Setty, 1980 MLJ (Cr) 138.***

If the Magistrate chooses to stay the proceedings but does not want to proceed further, the Magistrate who made an order for staying the proceedings under this section, does possess sufficient powers to remove the order of stay and proceed further in the case. **R.N. Ghosh Vs. State, AIR 1956 Cal 247.** If the Magistrate chooses to act under this section and stoppage of proceedings is made after the evidence of the principal witnesses has been recorded he can pronounce a judgment of acquittal and in any other case just release the accused, and the release shall have the effect of discharge. ***Santamma Vs. Kunju Pillai, 1980 MLJ (Cr) 448.*** The provisions of this section should be applied only when it is difficult or impossible for the Magistrate to proceed with the case. If it is found that the case can be decided on merits without hindrance or in the usual manner in accordance with the procedure prescribed under the Code, the Court will have no reason to take resort to this section. ***State of Gujrat Vs. Lohana Dhirajlal, 1973 Cr.L.J. page 82.*** Therefore it is not mandatory for the Magistrate to acquit the accused if the evidence of the principal witnesses has been recorded. The words "may for reasons to be recorded by him.... prnonounce a judgment of acquittal" reveals that if all the formalities are completed and there is no reason for stopping the proceedings, the Magistrate should not acquit the accused even after examining the principal witnesses because Magistrate has to record reasons for aquitting or stopping the proceedingss and the reasons must be of sound mind, i.e. it should not be arbitrary act. It must be with equity, justice and good conscience. Where the Magistrate finds that on the facts alleged he is not compelled to waste public time by receiving prosecution evidence and thereafter to pass an order of acquittal. He can in such cases resort to this section and discharge the accused. In a case where the Magistrate finds that the previous sanction of the authority was necessary but had not been obtained, he has the power to stop the further proceedings under section 258 and to release the accused. Another example may be as the investigation in the summons case was carried on and charge-sheet filed after six months from the date of arrest of the

accused without permission from the Magistrate under Section 167 (5). Cognizance was held bad and further proceedings were stopped under section 258. ***Raj Singh Vs. State, (1984), 1 Crimes 755.***

STEPS TO BE TAKEN ON PERUSAL OF POLICE PAPERS :-

An order of acquittal merely on the perusal of police papers cannot be sustained under this section if the police papers do not disclose any case against the accused. There would be all the more reason for the magistrate to proceed with the case and record finding of acquittal after taking evidence. ***State of M.P. Vs. Shantilal, 1962 MPLJ 195.***

ORDER WITHOUT JURISDICTION : EFFECT OF :-

In ***Kannaiah In re, AIR 1967 Madras 390,*** it was held that an order passed under this section but without jurisdiction is void and cannot be recorded as an order for the acquittal of the complainant. The original case started on complaint will continue to be pending as if no order was passed.

FRESH TRIAL :-

The order under this section was specifically excluded by section 304 old (300 new) of the Cr.P.C. from being an acquittal and further proceedings in accordance with the law were not barred. Please refer to ***Radha Krishna Vs. State of Rajasthan, AIR 1964 Raj 216.***

REVIVAL :-

Explanation to Section 403 of the Code of 1898 provided that the stopping of proceedings under section 249 of that Code was not an acquittal for the purposes of Section 403. It was therefore held that the acquittal did not act as a bar to fresh proceedings against the accused with reference to the same matter. Sub-section (5) of section 300 of the present Code now provides that a person discharged under the section shall not be tried again for the same offence except with the consent of the Court by which he was discharge or of any other court to which the first mentioned Court is subordinate.

Acquittal or discharge under this section is governed by section 300 and discharge will be subject to further inquiry in revision under Section 398. Where the effect to such order is acquittal, appeal can be filed against the order and the order is discharged only remedy against order would be filing of revision under Section 398 Cr.P.C. ***State of Gujarat Vs. Madanlal, 1995 Cr.L.J. 1581.***

For ready reference provisions of section 167 (5) and (6) and section 300 (5) and (6) and Explanation thereunder is reproduced :

"SECTION 167 (5) : If in any case triable by a Magistrate as a summons-case, the investigation is not concluded within a period of six months from the date on which the accused was arrested, the Magistrate shall make an order stopping further investigation into the offence unless the officer making the investigation satisfies the Magistrate that for special reasons and in the interests of justice the continuation of the investigation beyond the period of six months is necessary.

(6) Where any order stopping, further investigation into an offence has been made under sub-section (5), the Sessions Judge may, if he is satisfied, on an application made to him or otherwise, that further investigation into the offence ought to be made, vacate the order made under sub-section (5) and direct further investigation to be made into the

offence Subject to such directions with regard to bail and other matters as he may specify.

SECTION 300 (5) :- A person discharged under section 258 shall not be tried again for the same offence except with the consent of the Court by which he was discharged or of any other Court to which the first mentioned Court is subordinate.

(6) Nothing in this section shall affect the provisions of Section 26 of the General Clauses Act, 1897 (10 of 1997), or of Section 188 of the Code.

EXPLANATION :- The dismissal of a complaint, or the discharge of the accused, is not an acquittal for the purposes of this section."

To sum up this article following are few citations under sections 256 and 258 Cr.P.C. which may kindly by perused.

Report filed by an Excise Officer under Section 247 old is deemed to be a report by police under Section 190 Cr.P.C. See ***State Vs. Nanda Singh, 1958 JLJ 150 (D.B.), State of M.P. Vs. Shabaram, 1975 JLJ Short Note 5, State Vs. Rama Krishana, 1960 JLJ 1173, Kali Charan Vs. Gurudaval, 1961 JLJ 1246.*** There cannot be an acquittal before issuance of a summons to the accused. See ***State Vs. Bhagat Singh, 1962 JLJ Short Note 164.*** Discretion how to be exercised has been stated is ***State Vs. Abdul Quadir, 1962 JLJ 1140. State of M.P. Vs. P.S. Desai, 1975 JLJ Short Note 55.*** The provision confers a wide discretion on the Magistrate. Dismissal of a complaint under this section is not a matter of course. ***State of M.P. Vs. Agricultural Produce Market, Sakti 1978 (2) M.P.W.N 313.*** Section 258 (249 old) does not apply to complaint cases. ***State Vs. Sunderlal, 1985 W.N. 231.*** In a summons case prosecution faild to produce evidence despite of several opportunities. The safest course is to discharge the accused and not to acquit him. This is all.

Judicial Officers are requested to go through **Chapter V Criminal Rules and Orders (MP)** regarding general procedure in inquires and trials. This runs from rule 109 onwards and in particular Rules 154 and 155 regarding dismissal of a case in default.

"RULES 154 AND 155 : DISMISSAL OF CASES IN DEFAULT :-

154. Before a case is dismissed by reason of the absence of the complainant the presiding officer should consider not only whether such an order is legal but whether it is justified by the circumstances.

155. Application for revision of orders of dismissal in default frequently urge (i) that the case was not called. (ii) that the case was dismissed very early in the day, (iii) that the presiding officer being on tour the complainant had no notice or insufficient notice. of the place of sitting, and the record often furnishes no definite information on these points. The following instructions shall accordingly be followed :-

(a) If a complianant is absent when his case is first called, a note of the fact should be made in order sheet and the case called later. The time of dismissal should invariably be entered in the order sheet.

(b) When the presiding officer is on tour cases instituted on complaint shall not be dismissed unless the complainant had due notice of the place of hearing."

Judicial officers are requested to go through Cr.P.C. by Sohani, Sarkar, Mitra, Ratanlal and other leading publications for further studies.

●

C.P.C. SECTION 96 (4)- APPEALS FROM SUITS OF SMALL CAUSES NATURE

P.V.NAMJOSHI,
Director, J.O.T.I.

Friends!

This is a new subject put up for discussion among Judicial Officers. It appears that in most of the Hindi Editions of the C.P.C. the provision of Section 96 (4) is not effectively translated. I had no opportunity to go through the Hindi Version of the CPC published by the Government.

The provision of Section 96 (4) is reproduced as under :-

> "96 (4)- No appeal shall lie, except on a **question of law,** from a decree in any suit of the **nature** cognizable by Courts of Small Cause, when the amount or value of the **subject matter** of the original suit does not exceed three thousand rupees."

This provision should be read in this manner :-

> "96 (4) No appeal shall lie, from a decree in any suit of the nature cognizable by Courts of Small Causes, when the amount of value of the subject-matter of the original suit does not exceed three thousand rupees, except on a question of law."

This means if the amount or value of the suit in a suit, which is in the nature of small cause is three thousand rupees or less than three thousand rupees, there will be no appeal from the judgment and the decree in that case except on a question of law. Therefore, an appeal shall lie if there involves a question of law in such case. That is the simple interpretation of this provision.

To study this provision one must go through the provisions of Section 102 of the C.P.C. also which runs as under :-

> **"102. NO SECOND APPEAL IN CERTAIN SUITS :-** No second appeal shall lie in any suit of the nature cognizable by Courts of Small Causes, when the amount or value of the subject-matter of the original suit does not exceed three thousand rupees."

The purpose of enacting this provision was well stated in Mullas on C.P.C. Vol I, 1981 Edition which is being reproduced here :

> "This sub-section is new having been inserted by the Amendment Act, 1976. Though the section provides for appeals against every decree, the new sub-section restricts that right and bars appeals **from facts** against decrees passed in suits cognizable by the Courts of Small Causes and where the amount or value of the subject-matter of the suit does not exceed three thousand rupees. The sub-section has been enacted to bring the section in line with the Presidency Small Cause Courts Act, 1882 and the Provincial Small Cause Courts Act, 1887 which contain similar restriction."

There are two small Cause Courts Acts. One is Provincial Small Cause Courts Act, 1887 and the other is Presidency Small Cause Courts Act, 1882. In M.P. Provincial Small Cause Courts Act, 1887 is applicable. Under Section 9 of the M.P. Civil Courts Act, Civil Judge Class II, Civil Judge Class I and that of the District Judge/Additional District Judge is empowered to try small cause cases. There is a Notification under the same provision which empowers a Civil Judge Class II to try such cases up to the valuation of two hundred rupees, Civil Judge Class I up to the valuation of five hundred rupees and the District and Additional District Judges up to the valuation of one thousand rupees. For further details regarding the nature of Small Cause cases one may go through the Provincial Small Cause Courts Act. 1887.

The words used in Section 96 (4) and Section 102 are "suit of the nature cognizable". The simple dictionary meaning of "nature" is as under :-

> "It means general characteristics and feelings; tipical qualities and statistics of a person, subject matter and basic qualities or character of a thing ; similar toi something, a type of something ; having qualities or characteristics of the specified kind."

Thus it will be clear from the provisions that it is immaterial whether the suit is tried by a Small Cause Court it self or by a regular Civil Court, what is material is the nature of such suit should not exceed the amount of three thousand rupees and the nature of suit should be of a case cognizable by court of Small Cause. The Small Cause Court has no jurisdiction to try a cause above the amount of three thousand rupees in presidency towns. (uless the Act is amended) or in M.P. the amount exceeding one thousand rupees. However, if Civil Court tries a case, the nature of which is that of a small cause, and the amount or the value of the suit does not exceed three thousand rupees no appeal shall lie except on a question of law. Therefore, it is the duty of the appellate Court to see (i) whether the appeal preferred before it is tenable or not (ii) what was the amount of original claim in the trial Court. Section 96 (4) says about the subject matter of claim and not the total amount of the decree which is executable. The words are, "when the amount or value of the subject matter of the original suit does not exceed three thousand rupees." Therefore, it is immaterial whether the amount of decree including costs exceeds more than three thousand rupees. This should also be noted by the appellate Courts.

To summarise it, two points should be derived from the above statement. One is "any suit of the nature cognizable by Court of small Cause." It means any suit relating to a subject matter over which a Court of Small Cause would have jurisdiction, if the claim were within the pecuniary limits of its jurisdiction. This is what stated in ***Sondaram Vs. Senia, (1990) 23 Mad 547 and 556.*** The other point to be derived is "the amount of the claim or value of the suit should not exceed three thousand rupees." It has nothing to do with cost of the suit or the amount or the value of the relief granted.

Another important point to be considered is question of law. If there involves a question of fact then there is no appeal, but if it involves a question of fact then definitely appeal lies to the first appellate Court under Section 96 (4) of the CPC. If we go through the commentaries relating to the provision we get ample material from standard books, such as Sarkar on CPC, Sections 100 and 102, Mulla and A.I.R. Commentaries on Section 100 and 102 CPC. also.

To discuss the subject relating to question of law and question of fact, I had/already written an article on the subject **"Trying a preliminary issue** as **per O. 14 R. 2 CPC".** That Article also appears in this "Joti Journal". That can also be perused for ready reference. It can further be made clear by studying some more particulars in this respect.

The **question of fact,** the **question of law** and the **mixed question of law and fact** are three different factors. When we use the word question of law, it also includes mixed question of law and fact. The question of fact means a question of fact which is not predetermined by an established rule of law or any question except a question as to what the law is. The Court has to exercise its intellectual judgment on the evidence placed before it in order to ascertain the truth and justice of the case. So far as question of law is concerned, this is determined by legal rules and principles. So far as mixed question of law and fact are concerned the basic principle for consideration would be, **the meaning of words** is a question of fact in all cases and secondly, **the effect of words** is a question of law. But where the document is of such character as to create, modify or extinguish the rights and obligations of the parties or otherwise effect their status, no question of legal effect arises and the construction of such a piece of document does not raise a question of law. This is what stated ***Ilam Vs. Dasondhi, AIR 1935 Lahore 378*** and ***Mukund Vs. Gopinad 21 CLJ 45*** and ***Pran Vs. Prasanna, 35 CLJ 580.***

Whether a misdescription in an insurance policy is material or not is partly a question of law. Construction of documents raising question of law are also taken to be the question of law. The decisions based on interpretation or inference from documents is a finding of fact unless interpretation of a document involves the question of application of principle or law. Mere inference from or the factual value of a document generally raises only a question of fact. This has been stated in ***Jangbir Vs. Mahavir, AIR 1977 SC 27.***

NOTE : Judicial Officers may refer the ruling of ***Wellington Associates Ltd. Vs. Kirti Mehta, (2000) 4 SCC 272*** under the head interpretation of deeds and documents which is also published in **Joti Journal 2000 Pt. 5 at page 610.** Misconstruction of a document which is foundation of the claim in a suit or a document of title is a question of law. Pure question of law includes interpretation of provisions of Act (***Kanhaiya Vs. Bhagwat, A1954 P 326***); Question of maintainability of suit (***Gani Vs. Khali, A 1960 J & K 35***); Construction of statute or document of title [***I C I (I) Ltd. Vs. CIT, A 1972 SC 1524***]; Whether contract is void or not (***Rashid Vs. Darparam, A 1954 As 95***); Decision on the interpretation of S. 7 (iv) (c) Court Fees Act (***Shamsher Vs. Rajinder, A 1973 SC 2384***); Whether entry of rent in settlement rent roll is conclusive (***Sidhakamal Vs. Bata, A 1939 P 402***); The point as to termination of tenancy by valid notice (***J.C. Chatterji Vs. Srikishen, A1972 SC 2525***); Point as to maintainability of delcaratory suit for non-compliance of S. 42 S.R. Act (***S. Vs. Bhindiwala, A 1971 MP 65***); Whether certain facts constitute negligence is a question of law (***Safdar Vs. Union, A 1978 A 53***). Plea of non-maintainability of suit (***CT Vs. Golaknath, A 1979 G 10***) Estoppel is an inference of law from proved facts (***Ujagar Vs. Sha, A 1979 P & H 12***). Inference from facts as to implied surrender of tenancy (***Madhubala Vs. Bhudiya, A 1980 A 266***). Question that appeal against order dismissing suit for default is not competent (***Supdt of Police Vs. About Rashid, A 1980 Gau 8***) question whether marriage in contravention of S. 5 (iii) Hindu Marriage Act is void ab

initio (***Shankerappa Vs. Sushilabai, A 1984 Kant 112***) whether facts found specified requirements of law or the finding which has to draw on a rule of law for the recording of it or for the ascertainment of its truth is a finding on a question of law. Any other is a finding on a question of Fact. ***S. Vs. Jamdar, AIR 1962 SC 445.***

The Supreme Court has in ***Shri Meenakshi Mills Ltd, Vs. I.T. Commr.,*** AIR 1957 SC 65 summarised the subject in the following manner:

PARA - 24

We have discussed the authorities at great length, as some of the observations contained therein appear, at first sight, to render plausible the contention of the appellant, and it seems desirable that the true meaning of those observations should be clarified, lest error and misconception should embarrass and fog the administration of law. The position that emerges on the authorities may thus be summed up :

(1) When the point for determination is a pure question of law such as construction of a statute or document of title, the decision of the Tribunal is open to reference to the Court under section 66 (1) (of the Income Tax Act

(2) When the point for determination is a mixed question of law and fact, while the finding of the Tribunal on the facts found is final its decision as to the legal effect of those findings is a question of law which can be reviewed by the Court.

(3) A finding on a question of fact is open to attack under S. 66 (1) as erroneous in law when there is no evidence to support it or if it is perverse.

(4) When the finding is one of fact, the fact that it is itself an inference from other basic facts will not alter its character as one of fact.

Again, the basis for finding of absence of reasonable or probable cause and the presence of malice consists in matters of fact, but the inference that should be drawn from the proved facts-whether they are sufficient to establish absence of reasonable or probable cause & care matters of law (***Narayan Vs. Peria, A 1939 M 783 ; Madan Vs. Kakshmi, 1938 PWN 783***). So whether adverse possession has been proved is a question of fact, but whether adverse possession shall be inferred from facts is not a question of fact but of legal inference. (***Tahilram Vs. Miral, A 1938 S 132 ; Venkata Vs. Vizianagram, A1942 M 725;*** whether adverse possession has been established (***Chandi Vs. Anant, A 1943 O 398; Dip Vs. Pundeo, 25 p 412 ; Bai Ganga Vs. Bheram, A1947 B 300 : Ram Vs. Asa, A 1937 A 429 : Suba Vs, Fateh 54A 628, Nizamuddin Vs. Mangal, A1949, A 699 ; Berojullah Vs. Ayatullah, A 1938 C 117; Bhani Vs. Ujagar, A 1936 L 741; Velliyotturamel Vs. Nadukandy, A 1969 K 222; Bhago Vs. Deepchand, A 1964 Pu 187***). Whether possession was adverse is often a question of fact, but it might also be a question of law or a mixed question (***Lachmeswar Vs. Mano war, 19 1A 48; 19 C 253; S. Vs. Kattubadi, A 1962 AP 518; Gundicha Vs. Eswara, A 1965 Or 96***); Whether acts amount to dispossession or isolated acts of tresspass (***Shk Mangal VS. P.D.C. Co. A 1950 C 328***).

Here we can make reference of one citation. ***Bhorse Vs. Kamal Chand, 1983 M.P.W.N. 13*** in which question of law was explained. The defendant alleged that his thumb impression on the promissory note was obtained by misrepresentation. The allegation

was not proved. Since it is misrepresentation, it is a question of law and therefore appeal is tenable under Section 96 (4). This is one of the best example of mixed question law and fact.

To conclude the subject the District Judge/Additional District Judges are requested to please go through the provisions of Sections 96 (4), 100 and 102 CPC relating to the suit of nature cognizable by Court of Small Cause, question of fact, question of law and mixed question of law and fact and the commentary there on. The attention of the Judicial Officers is also invited to one ruling ***Laxmichand Vs. Mitthu, AIR 1984 M.P. 112,*** in which it is held that :

> "It is well settled that the right of appeal accrues to the parties to the suit on the date of the institution of the suit according to the law then in force and therefore, there is a presumption that subsequent change in law restricting the grounds of appeal will not apply to appeals arising from the suits instituted earlier. The relevant clause of section 97 (2) of the Amendment Act is Clause (1) which provides that the provisions of Section 96 of the Principal Act as amended by Section 33 of this Act shall not apply to or affect any appeal against the decree passed in any suit instituted before the commencement of the said Section 33 and every such appeal shall be dealt with as if the said section 33 had not come into force. The saving provision contained in Clause (i) is not limited to any pending appeal but applies generally to any appeal. The only qualification is that the appeal should be against the decree passed in a suit instituted before the commencement of section 33. The interpretation of clause (i) that it is not limited to pending appeal will be consistent with the presumption that the right of appeal accruing in favour of a party is not taken away by a change in law as also with section 6, General Clauses Act, the effect of which is preserved by the opening words of Section 97 (2). **AIR 1980 M.P. 16** relied on."

●

मनोगत

अप्रेल 2001 की यह पत्रिका आपके पास कुछ देरी से आ सकती है क्योंकि अपरिहार्य कारण से कागज की उपलब्धि संभव नहीं हो सकी। फरवरी 2001 से पत्रिका का कलेवर बदल दिया गया है। बड़े आकार में पृष्ठ 68 थे अर्थात पुराने आकार में 136 पृष्ठ। माननीय उच्च न्यायालय की असीम कृपा से अब पृष्ठ संख्या 80 हो जायेगी अर्थात पुराने आकर में 160। अप्रेल के अंक में विभिन्न विषयों पर प्रचुर मात्रा में लेख प्रकाशित किए जा रहे हैं। ग्रीष्म अवकाश आने को है, इन लेखों को पढ़ा जा सकेगा, चिंतन किया जा सकेगा। पायलेट प्रोजेक्ट पर भी विशेष लेख लिखा है। प्रत्येक अंक के साथ अनुक्रमणिका प्रकाशित करने का प्रयत्न है। सन् 2000 का इंडेक्स तैयार है जो छपने के बाद वितरित हो जाएगा।

एक कम्प्यूटर उत्तर कोटि का उपलब्ध हो इस लिए प्रयत्न है। यदि निकट भविष्य में उपलब्ध हो जाता है तो पत्रिका को सही अर्थों में आकर्षक एवं रंगीन बनाया जा सकेगा। थोड़ा धीरज रखें निश्चित हो आपकी आकांक्षाएँ पूर्ण होंगी।

संपादक

वार्तालाप-टेलीफोन पर : मुलाक़ात घर पर

पुरुषोत्तम विष्णु नामजोशी

विभिन्न अवसरों पर न्यायिक संस्कारों के विषय में लिखा जाता रहा है। बहुत दिनों से सोच रहा था कि टेलीफोन व कॉलबेल पर भी कुछ लिखा जावे। वैसे तो कॉलबेल घर–घर की कहानी है। निजी मामला है। टेलीफोन निजी है तो पुनः वह भी निजी मामला है। लेकिन वह शासकीय है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि जिसके आधिपत्य में वो है उसे समय–बेसमय अनावश्यक रूप से परेशान किया जावे। यह ऐसा विषय भी नहीं है कि जिस पर न्यायिक संस्कार के रूप में बात हो। लेकिन जब वर्ग विशेष के रूप में समष्टि रूप से बात होती है तो न्यायिक परिवार से भी उसका संबंध उत्पन्न हो जाता है।

एक न्यायिक अधिकारी दूसरे के यहां आता जाता है या कि किसी अन्य व्यक्ति के यहां हम आते जाते हैं तो संभवतः अपने साथ धीरज को नहीं ले जाते। विचार धीरज आजकल लावारिस, परित्यक्त एवं उपेक्षित हो गया है। उसे हर कोई उपेक्षा, हिकारत की निगाह से देखता है। लेकिन उसका व्यक्तित्व चरित्र ऐसा नहीं है कि आपके साथ कोई गुस्ताखी करे। हम ही ऐसा कर लेते हैं लेकिन बिना किसी कारण के।

मेरे घर पर कॉल बेल है। सामान्य रूप से आपके यहां भी होगी। नहीं हो तो लगा लेना उसका भी अलग आनंद है। सुविधा होगी यह बात अलग है कि सुविधा से ज्यादा कष्ट भोगना पड़ेंगे। आजकल असमय भी व्यक्ति अकालवृद्ध, बीमार या हृदय रोग से पीड़ित हो जाता है। संताप, क्लेश, परेशानियों के अतिरिक्त ध्वनि प्रदूषण भी बहुत बड़ा कारण है। अकारण कुछ नहीं होता। अवकाश के दिन आप जब आराम कर रहे हों तब ही दूसरों को निरर्थक कार्य के लिए आपके यहां आने का समय होता है। जैसे तैसे दरवाजा खोला और पूछा भैय्या रे कैसे पधारें तो उत्तर मिलता है, यूं ही आ गया। इधर से जा रहा था सोचा आपसे भी मिल लूं। भेंट का समय व पोषाक इस विषय पर **ज्योति 1999 (6) दिसंबर पृष्ठ 500 पर एवं ज्योति 2000 (1) फरवरी पृष्ठ 30** पर लिखा जा चुका है। उसका असर कितना हुआ है यह भुक्त भोगी जान सकेंगे।

अब जब भी समय असमय कोई आया तो उसने बेल बजाई। ऐसा नहीं है कि बेल एक बार ही बजेगी। प्रथम बार में ही लगातार कई बार बजेगी। इतना ही पर्याप्त नहीं है। बेल के साथ मुंह भी बजेगा, जोर से बजेगा व पूछा जाएगा, शर्माजी हैं क्या? फिर दो क्षण बाद इसी बात को दोहराया जाता रहेगा जब तक दरवाजा न खोल दिया जावे। आगंतुक को यह भ्रम रहता है कि घर में रहने वाला व्यक्ति बंद दरवाजे के ठीक पीछे बैठा रहता है कि बेल बजी नहीं कि दरवाजा खुला नहीं। यह सब काम हम सब पढ़े लिखे समझदार उच्च पदस्त लोग कर रहे हैं। घर का व्यक्ति, अन्य सदस्य अपने अपने कार्यों में व्यस्त रहते हैं। उन्हें बेल सुनाई देगी, जिसे किसी को समय है वह मुख्य दरवाजे पर जाएगा तब ही तो दरवाजा खोलेगा। कुछ समय लगना तो अवश्यंभावी है लेकिन नहीं। यदि हम अपने साथ धीरज को लाए होते तो हमें वो समझाता। ये सब व्यवहार शिष्टता को प्रतिलक्षित नहीं करते। ऐसा व्यवहार आप उनके साथ करते हों जो आपके घनिष्ट परिचित हो तो अनौपचारिक संबंध हो तो थोड़ी देर के लिए समझा जा सकता है यद्यपि यह भी उचित नहीं कहलाएगा। फिर भी यह सहन किया जा सकता है।

और तो और एक बात और। हम एक साथ कई माध्यमों का प्रयोग करते हैं। मानों मकान के अंदर के व्यक्तियों के साथ कोई हादसा होने वाला है या हुआ है व उन्हें घर से बाहर निकालना है, जितना जल्दी संभव

हो सके उतना जल्दी। इसके लिए हम दरवाजे की सांकल (कड़ी) को भी दरवाजे पर ठोंकते हैं व हाथ का पजा भी ठोंकते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि हम ऐसा क्यों करते हैं। क्या हम असहिष्णु हैं या अशिष्ट हैं या असंयमी हैं या असंस्कृत हैं इसलिए, अच्छी बात नहीं है। संभव है किसी घर में कॉलबेल ऐसी लगी हो कि बजाने वाले को सुनाई न पड़े लेकिन हम ऐसा क्यों मानकर चलते हैं बेल की आवाज हमें नहीं सुनाई दे रही है तो साक्ष अधिनियम के अंतर्गत यह उपधारित किया जाएगा कि बेल खराब है। तो निवेदन है कि थोड़ा संयम रखें, थोड़ा विश्वास रखें एवं धीरज को दोस्त के रूप में अपने साथ रखें।

सुबह छह बजे एकदम टेलीफोन की घंटी दनदनाती है। सोये हों तो हड़बड़ाहट में उठते हैं, टेलीफोन रिसीव्ह करते हैं तो एकदम शुरू हो जाता है मैं फलां फलां बोल रहा हूं एक डिफिकल्टी है व उसका उच्चारण शुरू। हम यह समझ पड़े कि कौन बोल रहा है उसके पूर्व ही समस्या का वर्णन शुरू। कहते हैं कि भैय्या आगे–पीछे का तो कुछ बता ही नहीं रहे हो तो सुनाई आता है क्या करूं सर आज ही फैसला देना है। यही बात अचानक रात को घटे दरों पर टेलीफोन पर सुनाई देगी। कई बार कहा गया है कि ऐसा कोई भी काम जिसमें आदेश निर्णय आदि पंचकर्म वाले कार्य सोमवार को कार्य दिवस पर मत लगाओ। शनिवार की शाम बड़े उत्साह से ऐसे कार्य लगा देते हैं लेकिन उस दिन घर पर जाने के बाद थक जाते हैं। रविवार को ऐसे विविध कार्य होते हैं कि हम पंच कार्य कर ही नहीं सकते। पंच कार्य से आशय है निर्णय, आदेश, आरोपी परीक्षण, चार्ज एवं वादप्रश्न से है। रविवार की रात को सब परेशानियां इकट्ठी होती हैं। एस.टी.डी. पर समस्या पूछ रहे हैं बिल बढ़ने की चिंता से व्यग्र हैं व चाहते हैं कि समस्या का हल कम्प्यूटर गति से हो या गया भाव रेलवे स्टेशन पर रखी वजन तोलने की ऑटोमेटिक मशीन जैसी गति से हो। लेकिन समस्या का निदान करने वाले व्यक्ति की स्थिति भी तो उसी मशीन जैसी है जो एक रुपया डालने पर भी अटक जाती है व जैसे तैसे इधर उधर ठोंकने पर कार्ड निकल भी आवे तो उसमें लिखा होता है कि वरिष्ठजनों की नाराजगी आप पर हो सकती है संयम रखें। याने इन सबके बाद भी समस्या का निदान तो होता ही नहीं है। अतः समस्या पूछने के पूर्व आपने यथोक्त तैय्यारी पूरक प्रतिप्रश्न के लिए करके रखना चाहिए।

जब हम टेलीफोन करते हैं तो कभी कभी तीन चार रिंग्ज जाने के बाद बंद कर देते हैं। ऐसा क्यों करते हैं, क्या मानसिकता होती है समझ में नहीं आती। ऐसा तो नहीं हो सकता कि घर का कोई न कोई व्यक्ति टेलीफोन अटेंड करने हेतु बैठा ही रहेगा और इधर बेल बजी नहीं कि उधर उठाई नहीं। घर के सदस्यों की विभिन्न गतिविधियां भी तो होती हैं उसी में से किसी एक को रोककर टेलीफोन अटेंड करने को जाते हैं तब ही बेल कट जाती है। वो आदमी वहीं खड़ा है कि बेल पुनः आएगी लेकिन वो आती ही नहीं। हमने टेलीफोन उठाया व कहा हैलोऽऽऽ! तो सामने वाले ने पूछा कौन बोल रहे हो, हमने पूछा आप किससे बात करना चाहते है तो भाई लोग टेलीफोन बंद कर देते हैं। टेलीफोन आने पर हम कहते हैं नमस्कार, नामजोशी, तो टेलीफोन रख देते हैं। टेलीफोन आने पर हमने टेलीफोन तो उठाया पर मौन धारण किया तो सामने वाला कुछ नहीं बोलेगा व टेलीफोन रख देगा। ऐसा बहुत कम अवसरों पर होता है जब तकनीकी खराबी के कारण वन वे ट्राफिक हो व एक की आवाज आती हो व दूसरे की नहीं। अर्थात टेलीफोन करने वाला व्यक्ति सब कुछ हमारे से जानना चाहता है व अपना परिचय तक नहीं होने देना चाहता।

सुबह का समय सबका व्यस्तता का रहता है यहां तक कि परिवारजनों से भी बात करने को समय नहीं है लेकिन कुछ लोग फुरसती होते हैं। टेलीफोन पर वार्तालाप करने के लिए उनके पास काफी समय होता है। अनावश्यक बातों में तो आनंद आता है। टेलीफोन आया, मैने कहा नमस्कार। नामजोशी बोल रहा हूं। उत्तर में

कहते हैं क्या हाल–चाल हैं, बहुत अच्छा कैसे चल रहा है, बहुत अच्छा। हाईकोर्ट के क्या हाल हैं, बहुत अच्छे हैं, सुना मीटिंग हो रही है, पता नहीं, अरे यहां तो काफी चर्चा है, होगी। कितने विषय रखे जा रहे हैं एजेंड़ा में, कौन–कौन कहां–कहां जा रहा है, किसको निकाल रहे हैं, किसको कहां फेंक रहे हैं। आदि आदि सब प्रश्न पूछे जा रहे हैं। इसका नाम हमने रखा है 'वीक एण्ड रिव्यू' और कुछ विषय न हो तो सर! इस साल हमारा ट्रांसफर होना है। हम यदि कहते हैं होने दो तो तपाक से उत्तर मिलता है नहीं सर, घर के पास ही रहने देना। इस प्रकार ऐसा वार्तालाप टेलीफोन पर होता है व यहीं उसका उपयोग है।

हम किसी के घर जाते हैं, या उसके यहां से जा रहे हैं तब भी मानसिकता का अध्ययन करना चाहिए। किसी के यहां गए, गेट खोलते हैं पर बंद नहीं करते खुला छोड़ देते हैं। जाते समय भी यह कार्य बड़ी निष्ठा से करते हैं। लेकिन हमारे यहां कोई ऐसा करे तो सहन नहीं होता है। ऐसा क्यों? ये सब लक्षण सभ्य व्यक्तियों के नहीं होते हैं। हमारा आचरण हमारा व्यवहार हमारे संस्कार संस्कृति व जिस परिवेश में आचरण करते हैं, उसका प्रतिबिंब है। हम आप का ठाठ–बाट, टिप–टॉप पहनाव आदि सब शून्य हो जाता है जब उसका तालमेल हमारे व्यवहार के साथ मेल नहीं खाता है।

दोस्तो! किसी के यहां जाओ या लौटो गेट बंद करो, कॉल बेल एक ही बार कुछ पलों के लिए बजाकर कुछ क्षण इन्तजार करो। यदि टेलीफोन किया है तो सम्पूर्ण रिंग जाने तक टेलीफोन बंद न करो। टेलीफोन पर समस्या का हल पूछना हो तो समस्या के विषय में पूर्ण जानकारी हो। समय–असमय किसी के यहां आना जाना टालो व टेलीफोन करने से भी टालो।

●

बेहतर है जान लीजिए

अर्थदंड की वसूली हेतु प्रकरण की पंजी

प्रशिक्षण वर्ग में यह प्रश्न पूछा गया था कि अभियुक्त को यदि अर्थदंड किया गया हो व उसने संदाय न किया हो तो अपराधिक विविध प्रकरण तैयार किया जाना चाहिए क्या तथा पंजी में पंजीकृत होना चाहिए क्या? उक्त न्यायिक अधिकारी का यह भी कहना था कि कुछ अधिकारी सकारात्मक उत्तर देते हैं कुछ नकारात्मक। वस्तुस्थिति इस प्रकार है।

म.प्र. नियम एवं आदेश (अपराधिक) के नियम 575 (8) की ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। जिसमें यह कहा गया है कि अध्याय 28 के अधीन कार्यवाहियाँ (अर्थदंड वसूली की कार्यवाहियां) (कुछ पुस्तकों में भूलवश "धारा 28 छप गया है" उसे अध्याय 28 पढ़ा जाना चाहिये।) यह अध्याय क्रमांक 28 पुरानी दंडप्रक्रिया से संबंधित है। अर्थात नये अधिनियम का अध्याय 32 है जिसके अंतर्गत धारा 421-424 दं.प्र.स. के अनुसार अर्थदंड को उद्ग्रहण (वसूल) एवं स्थगित करने के विषय में कहा है। उक्त प्रावधान के अंतर्गत रजिस्टर रखा जाता है।

अपराधिक नियम एवं आदेश के पाठ 14 में अर्थदंड के उद्ग्रहण (वसूली) के विषय में बताया गया है जिसका नियम 352 महत्वपूर्ण है। इंडिया पब्लिशिंग कं. इन्दौर, लेखक श्री पारसचंद्र जैन (सेवानिवृत्त न्यायाधीश) के आभार व्यक्त कर वह प्रावधान उक्त पुस्तक में से यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

FOR JUDICIAL OFFICER TOO

WELL SCORED!

The concept of Business Scorecards is fast gaining ground as a tool to assess performance in an effective manner.

The world of business is very competitive, and if a company wants to achieve excellence and make profit in this scenario, it should adopt new business performance management systems to gain an edge over their competitors. These new concepts can either come though in-house innovation, or by borrowing ideas from other functional areas.

One such concept is that of the Balanced Scorecard, borrowed from the world of sports- suited to business especially for its practicality.

THE CONCEPT

The Balanced Scorecard is a management philosophy co-authored by Dr Robert Kaplan and David Norton in the early 1990's.

This enables an organisation's vision and strategy to be translated into measurable actions or plans. tracking performance against pre-defined goals. Thus it provides a medium to convert organisational vision into focussed objectives, which provide a direction to the orgainsation.

IMPORTANCE

Traditionally, the companies had evaluated performance primarily by analysing data such as bottom line, top line, sales volume and ROI. However, Balanced Scorecard is considered superior because it measures both financial and non financial factors. This is important because it helps measure all those things that drive the financial performance.

The Balanced Scorecard, as per Kaplan and Norton. tracks performance against certain key measurable areas :

The first area is that of learning and growth, which measures the readiness of the work force to be creative and innovative. The factors taken into consideration are the number of hours devoted to training, number of external businesses and community organisations that employees belong to, and adequacy of long term investments for organisational success.

The internal process perspective focuses on those operations of the company that affect the customer satisfaction and ultimately, the revenues, Other factors considered here include efficiency, technology usage or cycle time (the amount of time it takes to turn around a customer order), continuous improvement and innovation of internal business processes for direct/indirect financial benefits.

Balanced Scorecard, like some other management practices, focuses on principles such as being customer focused, efficient and maintaining an innovative work force. But the difference is that if treats them as dynamic factors, monitoring them on a continuous basis. The objective is to make the work force think strategically, keeping the organisational vision in sight. It is not intended to be "a big measurement stick" used to discipline people, but is definitely a change agent.

A growing number of companies are now incorporating this concept in their manage-

ment. A research conducted by the Gartner Group indicates that 60 percent of Fortune 1,000 firms are planning to bring in this change.

The reason for the rising popularity of this concept is that it helps an organisation to be aligned to the organisational strategy. It eliminates the "strategy disconnect" between leadership and line workers, by helping employees understand how each of them can make a positive or negative impact on the business performance.

BUILDING A BALANCED SCORECARD

Though it seems simple, building a Balanced Scorecard is not a cakewalk.

One key to successfully implementing Balanced Scorecard is to gain full support from company leaders. It needs to be more than just another report which reflects the true corporate strategy and vision of the CEO and leadership.

There are a few steps that must be followed while building the Balanced Scorecard.

1. The first step is to obtain the commitment from a company's leadership.
2. Defining the organisation's strategic destination. considering factors like Industry trends, competitive benchmarking and organisation's past and present organisational performance, is the next step.
3. After defining the destination. define the key platform on which the organisational strategy lies. This helps drive focus and clarity in the organisation.
4. The next step is to develop linked strategy objectives for each theme and to link the business drivers with the five perspectives.
5. Now, the organisation needs to develop measures and set the targets.
6. Prioritising the initiatives aligned to the scorecard and ensuring that the time, effort and money spent, is in the right direction is the next step.
7. Lastly, it is important to plan for the implementation, for successfully building the Balanced Scorecard. As the old saying goes "A man with a plan can..."

The scorecard data is typically reviewed on a quarterly or monthly basis. A good scorecard consists of 25-35 measures, all but five of them focusing on customers, enternal processes learning and growth. Norton contends that if you want your scorecard to be truly "balanced", nearly 80 per cent of the measures tracked should be non-financial.

HR (HUMAN RESOURCES) FUNCTION AND BALANCED SCORECARD

The need of the hour, says noted HR professional and author Dave Ulrich, is to redefine the human resource professional to meet the competitive challenges that the organisations face today and in the future. Instead of concentrating on the volume of transactions, they should see themselves as sources of value creation.

The Balanced Scoreacard provides a useful launch pad for those who want to transform the HR function into a source of value creation. It is a powerful framework for identifying linkages between HR and business processes and, ultimately, can be used to establish linkages to financial outcomes. Playing an active role, and leading the change process, will benefit the HR professionals and the organisations they work for.

Balanced Scorecard imbeds long-term strategy into management systems through the mechanism of Measurement. So if an organisation adopts the concept it is definitely going to see a dramatic improvements in its performance.

SANDEEP PARIKH

Courtesy :- Shri Sandeep Parikh and H.T. Careers. Plus Enhance Dated 9-3-2000

एक पक्षीय प्रकरणों में विचारणीय बिंदु - पुनः निवेदन

पुरूषोत्तम विष्णु नामजोशी

एक पक्षीय प्रकरणों में विचारणीय बिंदु इस विषय पर एक लेख **फरवरी 2000 की ज्योति में पृष्ठ 20 से 25** तक लिखा गया था। जिसमें यह बताया गया था कि एक पक्षीय प्रकरणों में विचारणीय बिंदु क्यों बनना चाहिये। लेख विस्तार से लिखा गया था। कारण बताए गए थे कि ऐसा न करने से पक्षकारों पर कितनी परेशानियां बढ़ जाती है, न्यायालयीन कार्य बढ़ जाता है व पता नहीं भविष्य में किस पक्षकार के साथ कैसा न्याय होता है। इस विषय पर कक्षाओं में चर्चा होती रही है व अन्यत्र भी हुई। बात यह नहीं है कि व्यवहार प्रक्रिया संहिता में ऐसा स्पष्ट दिया है या नहीं। जो दिया है उसका सकारात्मक निर्वचन तो होना ही चाहिये। सकारात्मक निर्वचन क्या हो सकता है इस पर विस्तार से विचार मन्थन हो सकता है। नकारात्मक चिंतन तो यह है कि यह फालतू है, निरर्थक है या कि शब्दाडम्बरपूर्ण है। जिन न्यायाधीशों ने वह लेख नहीं पढ़ा उसे वे प्रथमतः अवश्य पढ़ें व इस लेख को पूरक लेख के रूप में पढ़ें क्योंकि पूर्व लेख की बातें यहां विस्तार से दुहराने की आवश्यकता नहीं होगी।

उक्त लेख में उल्लेखित कई दृष्टांतों में से एक दृष्टांत ***नगरपालिका विरूद्ध मोतीलाल ए.आय.आर. 1977 पृष्ठ 182*** के द्वारा ***मोहनलाल वि. यूनियन 1962 जे.एल.जे. शार्टनोट 269*** का दृष्टांत ओव्हर रूल्ड कर दिया था। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने उपरोक्त निर्णय को दिनांक 23 मार्च 1978 को सिविल अपील **719/78** ***मोतीलाल विरूद्ध नगर निगम*** में निरस्त कर दिया था। इसका खुलासा ***2000 (1) एम.पी. एल.जे. 407 महेश सिंह वि. सेवाराम*** में किया गया है जो **ज्योति जनरल जून 2000 टिट बिट क्र. 4 पृष्ठ 301** पर टिप्पणी सहित विस्तार से बताया गया है। इस प्रकार ***मोहनलाल वि. यूनियन 1962 जे.एल.जे. टीप क्र. 269*** पुनः अस्तित्व में आ गया। उक्त दृष्टांत का कुछ हिस्सा यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। वह इस प्रकार है– The defendant did not file any written statement but cross examined the plaintiff's only witness, the plaintiff himself. The trial court delivered Judgment which was termed exparte and dismissed the suit on the ground that the case of the plaintiff was not proved. In fact it was not ex-prate. The Judgment was in fact in the absence of any defence pleas. The small cause Judge acted illegally in dismissing the suit cautioning the plaintiff that his oral assertion could not be relied upon and that more evidence was necessary.

कुछ एक का मत है कि एक पक्षीय प्रकरणों में वाद प्रश्न बनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उत्तरवाद प्रस्तुत न करने पर आदेश 8 नि. 5 एवं आ. 8 नि. 10 व्य.प.स. के प्रावधानों के अनुसार दाव प्रतिवादी के विरूद्ध डिक्री किया जाना है। सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय ***बलराज तनेजा वि. सुनील मदान*** **1999 (8) एस.सी.सी. पृष्ठ 396 (ज्योति जनरल टिट बिट नं. 1 फरवरी 2000 का अंक पृष्ठ 37** एवं इसी पत्रिका में **पृष्ठ 33 से 36**) **'अभिकथनों के आधार से दावे का पारित करना'** देखना सुसंगत है। निर्णय यांत्रिकीय पद्धति से पारित नहीं करना होता है। ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है कि आ. 8 नियम 5, आ. 8 नि. 10, आ. 12 नियम 06, आ. 15 नियम 01 अथवा आ. 23 नियम 03 के अंतर्गत न्यायालय को पक्षकारों की इच्छा पर सील मात्र लगाना है। दावा डिक्री भी किया जा सकता है अथवा खारिज भी। यदि दावा खारिज करना है तो क्या पक्षकार को निर्णय के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि न्यायालय अमुक–अमुक बातों पर संतुष्ट नहीं है अतः उन मुद्दों पर साक्ष्य प्रस्तुत करें। यदि आप ऐसा करते हो तो व्यवहार प्रक्रिया संहिता में ऐसा कहीं नहीं लिखा है ऐसा कहते हो। यदि आप ऐसा न करके दावा खारिज करते हो तो दो तर्क दिये जाते हैं। एक यह कि न्यायालय दावा खारिज कर सकता है क्योंकि व्यवहार प्रक्रिया संहिता में ऐसा नहीं लिखा है कि दावा खारिज नहीं किया जा सकता।

दूसरा तर्क यह दिया जा सकता है कि वादी मात्र के अभिकथनों के आधार से एकपक्षीय प्रकरण में भी वाद प्रश्न (विचारणीय बिंदु) बनाए जाना चाहिए व तत्पश्चात वादी को निर्देशित करना चाहिये कि इन बिन्दुओं पर साक्ष्य प्रस्तुत करें। ऐसा करने से एक पक्षीय प्रकरण के वादी को स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि उसे किन बिन्दुओं पर साक्ष्य प्रस्तुत कर के प्रकरण सिद्ध करना है। तब न्यायालय एक पक्षीय कार्यवाही में दावा खारिज करता है या डिक्री करता है तब न्यायालय ने अपनी सीमाओं का उल्लंघन नहीं किया है। क्योंकि साक्ष्य प्रारंभ होने के पूर्व ही वादी को लिखित में विचारणीय बिंदु प्रदर्शित कर दिये गये हैं व साक्ष्य हेतु अवसर दिया है। आ.20 नि. 4 (2) के अनुसार भी निर्णय में विचारणीय बिंदु लिखकर निर्णय देना है अतः साक्ष्य प्रारम्भ होने के पर्याप्त पूर्व ही उन्हें बनाकर पक्षकार को अवगत कराना चाहिए। आ. 8 नि. 05 (1) के परन्तुक में कहा है कि "परन्तु ऐसे स्वीकार किए गए किसी भी तथ्य ऐसी स्वीकृति के अलावा **अन्य प्रकार से साबित किए जाने की अपेक्षा न्यायालय स्वविवेकानुसार कर सकेगा।** उसी प्रकार आ. 8 नि 10 व्य.प्र.स. में यह कहा गया है कि "..... लिखित कथन..... उपस्थित करने में असफल रहता है वहां न्यायालय उसके विरूद्ध निर्णय सुनाएगा **या वाद के संबंध में ऐसा आदेश करेगा जो ठीक समझे.....** "

उपर उल्लेखित प्रावधानों को पढ़ने से ज्ञात होगा कि जहां न्यायालय अभिकथनों के आधार से दावा डिक्री नहीं कर रहा है वहां न्यायालय वादी को अभिकथन सिद्ध करने की अपेक्षा कर सकेगा। और जहां अभिकथन सिद्ध करने के लिए अवसर देना है वहां स्वाभाविक रूप से वादी को यह बताना होग कि क्योंकर न्यायालय अभिकथनों के आधार से वादी का वाद डिक्री नहीं करना चाहता है। यह इसलिए भी कि न्यायालय वादी से अभिकथनों को सिद्ध करने की अपेक्षा करता है। अब न्यायालय का कर्तव्य है कि वादी को सूत्रबद्ध रूप से उन मुद्दों को, वाद प्रश्नों को, विचारणीय बिंदुओं को लिखित में वादी को सूचित करे कि ये बिंदु हैं जिस पर साक्ष्य देना है।

ये कहा जाता है कि जहां प्रतिवादी ने उत्तरवाद प्रस्तुत नहीं किया है वहां वादी को मालूम है कि उसे क्या सिद्ध करना है। नहीं ऐसी बात नहीं है। न्यायालय स्वयं ऐसे अभिकथनों से संतुष्ट नहीं है इसीलिए तो वादी से साक्ष्य की अपेक्षा की गई है। दूसरी बात यह कि वादी प्रतिवादी के अभिकथन रिकार्ड पर है तब भी तो उभय पक्षों को मालूम है कि विवाद क्या है व साक्ष्य क्या देना है। फिर भी वाद प्रश्न क्यों बनाए जाते हैं। उत्तर स्पष्ट है कि न्यायालय आ. 14 व्य.प्र.स. के प्रावधानों के अनुसार तथ्य एवं विधि की तात्विक प्रतिपादनाओं के आधार से वाद–प्रश्न बनाएगा। इसी तारतम्य में आदेश 14 नियम 1 (6) को देख लें उसमें कहा है कि "इस नियम की कोई बात न्यायालय से यह **अपेक्षा नहीं करती कि** वह उस दशा में विवाद्यक विचारित और अभिलिखित करे **जब प्रतिवादी वाद की पहली सुनवाई में कोई प्रतिरक्षा नहीं करता। इस प्रकार प्रतिवादी लिखित प्रतिरक्षा नहीं करता तो वाद-प्रश्नों की रचना करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात जब न्यायालय आदेश 8 नियम 05 व्य. प्र.स. एवं आदेश 8 नियम 10 के अनुसार अभिकथनों के आधार से दावा डिक्री करता है। लेकिन जहां न्यायालय ऐसा न करके साक्ष्य के लिए अपेक्षा करता है तो क्या करना है।** पुनः इस स्टेज पर आ. 14 नि. 1 (6) की पंक्तियां मार्गदर्शक होंगी। उसमें ये नहीं लिखा है कि प्रतिवादी उत्तरवाद प्रस्तुत नहीं करता है तो वाद प्रश्न नहीं बनाए जाएंगे अपितु यह लिखा है कि न्यायालय से यह अपेक्षा (Requires) नहीं रहेगी। इसका स्पष्ट अर्थ ही यह है कि जहां न्यायालय आ. 8 नि. 5 व्य.प्र.स. एवं आ. 8 नि. 10 व्य.प्र.स. या अन्य प्रावधान यथा आ. 12 नि. 6 अथवा आ. 15 नि. 1 के अंतर्गत तत्काल वादी का वाद प्रतिवादी के विरूद्ध डिक्री नहीं कर रहा है तो वाद प्रश्न बनाना होंगे। इस विचार को सही परिप्रेक्ष्य में ***भुजंगराव वि. बलीराम 1928 नागपुर 165*** में प्रदर्शित किया गया है। उसमें कहा गया है कि "In every ex-parte case the Court must consider whether there are any matters that ought to be proved by evidence in addition to having been proved by the admission of the defendant and if it finds that there are

it must state them definitely, preferably in the form of issues. ***नगर पालिका निगम वि. मोतीलाल ए.आय.आर. 1977 पृष्ठ 182*** का दृष्टांत (जो कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपास्त कर दिया) में चरण 7 में भी कहा गया कि **"It is no doubt the practice that no issues are framed but that does not absolve the plaintiff of his responsibility to prove his case."** याने एक न्यायालय वाद प्रश्न नहीं बनाएगा, दूसरी ओर वादी से साक्ष्य अपेक्षित भी की जाएगी व वादी को यह भी नही बताया जाएगा कि न्यायालय वादी से किन मुद्दों पर साक्ष्य की अपेक्षा करता है तब वादी का वाद खारिज करना न्यायोचित तो निश्चित नहीं। ***मोहनलाल वि. यूनियन* 1962 जे.एल.जे. शार्ट नोट 269** का दृष्टांत जो पुनः जीवित हो गया में कहा है कि न्यायालय ने वादी को बताना चाहिये कि किन मुद्दों पर वादी से साक्ष्य अपेक्षित है।

आ. 20 नि. 4 (2) व्य.प्र.स. कहता है कि अन्य न्यायालयों के निर्णयों (लघुवाद न्यायालय से भिन्न) के मामले का संक्षिप्त कथन, अवधार्य प्रश्न, उनका विनिश्चय और ऐसे विनिश्चय के कारण अन्तर्विष्ट होंगे। अर्थात न्यायालय अवधार्य प्रश्न (पॉइन्टस् फॉर डिटरमिनेशन) निर्णय लिखते समय बनाएगा। क्या इसका यह अर्थ है कि हम वादी को साक्ष्य प्रारंभ करने के पर्याप्त पूर्व यह नहीं बताएंगे कि अवधार्य प्रश्न क्या है लेकिन निर्णय के समय बनाएंगे। न्यायालय वादी के अभिकथनों के आधार से दावा डिक्री नहीं कर रहा है लेकिन उससे साक्ष्य अपेक्षित की जा रही है। तब कुछ न्यायाधीश वादी को अवसर दिए बिना दावा खारिज कर देंगे तो कुछ अपनी इच्छा हो तो निर्णय न देते हुए वादी को बताएंगे कि न्यायालय अमुक–अमुक साक्ष्य की और अपेक्षा करता है। अर्थात यह कार्य नियम कायदे का नहीं होगा अपितु न्यायाधीश के व्यक्तिगत विवेक की बात होगी। विधि कभी भी अविवेकी अतर्कशील (अनरीज़नेबल) नहीं होती न मनमानी करने के अधिकार देती है तब सुनियोजित व व्यवस्थित कार्य यहीं होगा कि हम निर्णय के वक्त विचारणीय बिंदु वाद प्रश्न अवधार्य प्रश्न बनाने के बजाय प्रथमतः विचारणीय बिंदु कायम करेंगे, उन्हें वादी को बताएंगे व फिर साक्ष्य लेंगे।

ऐसा करना व्य.प्र.स. के विपरीत नहीं है अपितु देखा जावे तो व्य.प्र.स. के विभिन्न प्रावधानों का यह साररूप है। दूसरी बात यह है कि ऐसा करने से अब वादी को प्रारंभ से ही चैतन्य कर रहे हैं कि न्यायालय किन बिन्दुओं पर साक्ष्य की अपेक्षा करता है। ऐसा करना वास्तव में न्याय संगत है न्याय की भावना के अनुकूल है। ऐसा करने से वादी को पुनः उन साक्षियों को आहूत करके व अन्य साक्षियों को आहूत करके साक्ष्य प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं होगी यदि विचारणीय बिंदु बनाए बिगर साक्ष्य लिपिबद्ध की होती व न्यायालय ने बाद में कहा हो कि इन इन विषयों पर न्यायालय संतुष्ट नहीं है व साक्ष्य द्वारा सिद्ध करें। पक्षकारों की परेशानी, साक्ष्य का अनावश्यक दोहराव व न्यायालय का बहुमूल्य समय नष्ट करने से बेहतर यह है व न्यायोचित है व विधिप्रावधानों अनुसार है कि जहां पर न्यायालय वादी के अभिकथनों के आधार से दावा डिक्री न करते साक्ष्य अपेक्षित करता है वहां साक्ष्य से पर्याप्त समय पूर्व ही विचारणीय बिंदु बना दिए जावें। विचारणीय बिंदु अवधार्य प्रश्न वाद–प्रश्न जैसे शब्दों में कहीं कोई अंतर नहीं है। आशय व उद्देश्य एक ही है। ***सी.आई.मोटर्स वि. जी. पी. श्रीवास्तव 1956 भोपाल पष्ठ 9*** पर कहा गया है कि 20. R 4 Provides that a judgment of a small cause court will contain the points for determination and the decision thereon. Points for determination are in fact the issues in suit. Neither the code of civil procedure nor the provisions of Provincial Small Cause Courts Act (S. 17) Prohibts framing of issues in small cause suits. आगे यह भी कहा है कि "In case a very strict view is adopted it will happen that the Courts of law would become like penal courts and will not be administrating Justice in the case. एक अन्य दृष्टांत ***एम.एन. फड़के वि. एम. डब्ल्यू. समुद्र 1957 एम.पी.एल.जे. नोट 54*** भी इसी तारतम्य में देखने योग्य है। एक अन्य दृष्टांत ***ए.आय.आर. 1986 कलकत्ता, 430 सुलोचना वि. गोविंद*** भी विस्तार से समझने योग्य दृष्टांत है।

यहां आ. 14 नि. 1 (6) व्य.प्र.स. एवं आ. 20 नि. 4 (1) का तुलनात्मक अध्ययन भी उचित होगा। आ. 14 नि. 1 (6) व्य.प्र.स. इस प्रकार है– **Nothing in this rule requires** the Court to frame and record issues **where the defendant at the first hearing of the suit makes no defence.**

आ. 20 नि. 4 (1) इस प्रकार है – Judgment of a small cause court **need not contain** more than the points for determination and decision there on. ***Mg Sa Vs. Ma V, AIR 1923 Rangoon 252*** में कहा है कि The words **'need not'** in sub rule (O.20 R. 4 (1) C.P.C.) were not meant to be used as 'Shall not' It is merely permissive and the discretion requires to be exercised Judicially with due regard to the circumstances of each case. इसी सिद्धान्त के आधार से प्रकारान्तर से (ॲनॉलॉजीकली) आ. 14 नियम 1 (6) में प्रयुक्त शब्द "nothing in this rule **requires**" का निर्वचन होना चाहिये तथा ऐसा निर्वचन करते समय आगे के शब्द to frame and record issues where the defendant at the first hearing of the suit maker no defence. को समझा जावे। अर्थात जहां आ. 8 नि. 5, आ. 8 नि. 10, आ 12 नि. 6 आ. 15 नि. 1 के अंतर्गत अभिकथनों के आधार से दावा डिक्री करना हो तो वाद प्रश्न बनाना आवश्यक न होगा अन्यथा बनाए जाएंगे।

एक बात और, आ. 15 नि. 4 क्या कहता है यह देखें। नियमित दावों में आ. 5 नि. 1 व्य.प्र.स. के अंतर्गत प्रतिवादी को सूचना पत्र दिया जाता है कि उत्तरवाद प्रस्तुत करें। आ. 5 नि. 5 व्य.प्र.स. का सूचना पत्र सामान्यतः साधारण अजटिल (सिंपल) प्रकरणों में निर्गमित होते हैं जहां प्रथम तिथि पर अंतिम सुनवाई होना है। जैसे स्मॉल कॉज केसेस। ***तुलजाराम वि. सीताराम 38 बॉम्बे 377*** में कहा भी है कि As a general rule, summons for final disposal should be issued only in simple cases. ऐसे प्रकरणों में भी वाद प्रश्न बनाने की अपेक्षा आ. 15 नि. 4 में की है। उक्त नियम यहां प्रस्तुत है।

नियम 4- साक्ष प्रस्तुत करने में असफलता

जहां समन वाद के अन्तिम निपटारे के लिए निकाले हैं और दोनों में से कोई भी पक्षकार वह साक्ष्य प्रस्तुत करने में पर्याप्त हेतुक के बिना असफल रहता है जिस पर वह निर्भर करता है **वहां न्यायालय तुरन्त ही निर्णय सुना देगा या यदि वह ठीक समझता है तो विवाद्यकों की विरचना व अभिलेखन पश्चात वाद को ऐसे साक्ष्य पेश किए जाने के लिए स्थगित कर सकेगा जो ऐसे विवाद्यकों पर उनके विनिश्चय के लिए आवश्यक है।**

अर्थात जहां न्यायालय तुरन्त निर्णय नहीं सुनाता है (जैसे आ. 8 नि. 5, आ. 8 नि. 10 व्य.प्र.स.) वहां न्यायालय वाद प्रश्न बनाएगा। अर्थात प्रकारान्तर से यही कि जहां न्यायालय अभिकथनों के आधार से वादी के पक्ष में निर्णय नहीं देता है तो साक्ष्य अपेक्षित करेगा व इसके लिए वह वाद प्रश्न बनाएगा।

नया दृष्टिकोण नया विचार नए आयाम प्रतिक्षण प्रतिपल विधिक्षेत्र की जान है। नदी बहती है, मिटती जाती है, बनती जाती है यह उसकी सतत् क्रिया है इसीलिए वह नदी है। Being एवं Becoming वाली स्थिति है। विचार यह होना चाहिए कि एक पक्षीय प्रकरण में जहां आपं अभिकथनों के आधार से वादी का वाद डिक्री नहीं कर रहे हो एवं साक्ष्य की अपेक्षा करते हो तो सकारात्मक स्थिति यह होगी कि वाद प्रश्न बनाएं जावे व नकारात्मक स्थिति यह होगी कि नहीं बनाए जावें। अब तुलनात्मक रूप से देखें लाभ किसमें है। ध्यान रहे एक पक्षीय प्रकरण में जो भी निर्णय होगा उसके विरूद्ध प्रतिवादी को आ. 09 नि. 13 की कार्यवाही एवं अपील या रिविजन जैसी भी स्थिति है करने का अधिकार है। वादी को भी अपील या रिविजन जैसी भी स्थिति हो करने का अधिकार है। प्रश्न ये होगा कि वाद प्रश्न बनाने से न्याय होगा क्या? तो उत्तर है, हां। अतः प्रज्ञावान कृत्य अवश्य करना चाहिये। ***2001 (1) वि.नो. 40 नारायण वि. बनवारीलाल*** एवं ***2001 (1) एम.पी.एच.टी. 150 गणपतलाल वि. गजानन*** को पढ़े तो ज्ञात होगा कि न्यायालयों द्वारा प्रक्रिया का पालन ठीक से न करने से पक्षकारों को कितनी असुविधा उठाना पड़ती है व उनके साथ अन्याय होता है।

O. 22 R. 4 C.P.C., NOTICE TO LEGAL REPRESENTATIVES

The question posed for solution was defendant after filing of the written statement died during the pendency of the suit. Plaintiff filed an application under O. 22 R. 4 C.P.C. of which Notice was sent to the legal representatives who did or did not appear in the Court. They were added in the array of the plaint as legal representatives of the deceased. The question is whether without notice of the suit Court can proceed ex-parte if they do not attend the court in reply to the notice under O. 22 R. 4 or after disposal of application U/o 22 R. 4 C.P.C. To summarise the answer in a pin pointed fashion, the answer would be the legal representatives should be noticed for the suit as they were not noticed for the same They were noticed for showing causing why they should not be brought on record as legal representatives. Notice to show cause is to be given in the prescribed proforma as per the Appendix- H, Form No. 4 of the C.P.C. This formal notice to show cause and in which nothing is mentioned about the nature of the suit.

Once the legal representatives are noticed for showing cause about why they should not be brought on record, if they do not appear in the Court to show cause what the court can do is either allow the application or reject it. If it allows the application the proposed legal representatives will be brought on record. But this does not by itself mean that the legal representatives have notice of the suit. Thus the duty of the Court is first to issue a show cause notice to the proposed legal representatives that why they should not be brought on record. If the legal representatives do not turn up then Court has to decide that application. If the proposed legal Representatives are brought on record, they should be arrayed and again notice of the suit should be given as per the provisions of O. 5 R. 1 or O.5 R. 5 as the case may be along with copy of the plaint and other required documents. If the proposed legal representatives appeare in the Court in reply to the show cause notice and after deciding the application if they are ultimately brought on record, it is the duty of the Court to supply them with the copy of the plaint and the copies of the documents. No one can pre-suppose that notice to show cause as to why the proposed legal representatives should not be brought on the record, is a notice of the suit.

It is said that this type of work takes a long time and causes delay in disposing of the case. But the simple answer is the procedural law should be followed in its spirt strictly. The via media is as under : While issuing a show cause notice to the proposed Legal representatives the Court should also intimate them that the Court is enclosing herewith the copy of the plaint and other required documents and that in case they are incorporated as legal representatives, it would be deemed that they have notice of the suit also. If this is done one can possibly understand that the proposed Legal representatives have sufficient notice and knowledge of the original case also.

The term "Notice" (knowledge) has been well defined under Section 3 of the Transfer of Property Act which can be perused. For ready reference the literally meaning of Notice is given as under :-

"Notice is making of something known, of what a man was or might be ignorant of before. And it produces diverse effects, for, by it, the party who gives the same shall

have some benefit, which otherwise he should not have had; the party to whom the notice is given is made subject to some action or charge, that otherwise he had not been liable to; and his estate in danger or prejudice."

The other problem is whether a legal representative can file a written statement independently that of a deceased person?

The answer would be seen under O. 22 R. 4 (2) of the C.P.C. which runs as under:

"A person so made a party may make a defence appropriate to his character as legal representative of the deceased defendant". i.e. his defence should be that of the legal representative and not as of individual Character). Please see O.8 R.9 C.P.C. and **A.I.R. 1992 Delhi 162** Saiued Sirajul Hassaris case.

If he wants to litigate and agitate the matter as an individual he should apply to the Court that his character in the case should also be that of an independent party to the proceedings and not that of a representative of the deceased only. ***In Balakrishna Vs. Om Prakash, 1987 (1) W.N. 191 (SC)*** it was held that the legal representatives of the deceased defendant were brought on record as legal representatives they cannot take inconsistent plea. It is requested to go through the provision of O.1 R. 10 (4) C.P.C.

For further studies please go through standard books on C.P.C. with commentaries.

●

BETTER KNOW IT

C.P.C., O. 7 R. 7 : RELIEF NOT CLAIMED IN PLAINT : EFFECT OF

O. 7 R. 7 of the CPC speaks about the relief to be granted to the plaintiff. The relevant provision is as under :

"RELIEF TO BE SPECIFICALLY STATED :- Every plaint shall state Specifically the relief which the plaintiff claims either simply or in the alternative, and it shall not be necessary to ask for general or other relief which may always be given as the Court may think just to the same extent as if it had been asked for. And the same Rule shall apply to any relief claimed by the defendant in his written statement."

This provision does not mean that plaintiff is not entitled to the relief if he hasnot claimed. This is not the absolute rule but the provision is to be interpreted in proper manner. For example if a suit by ex-partners is for ascertained sum, it may be treated as a suit for accounts and such suit is maintainable and Court is entitled to grant appropriate relief. The basic principle is no relief is available unless necessary facts and documents are disclosed in the plaint. If the circumstances of the case permit, Court can grant even such relief as not claimed in the plaint. **(AIR 1951 SC 177).**

If the pleadings, issues and evidence make the evidence available the Court should grant the relief and if the relief is consistent with or flows from the case of defence or necessarily consistent with it and it does not take the opposite party by surprise, Court can mould the relief. Court can grant such a relief which has not specifically asked for. Even if the relief is claim under wrong provision of law Court has jurisdiction to grant relief

under correct provisions of law. If the relief is otherwise available. If the plaintiff fails to prove his case still entitled to a decree on the basis of the defence. For example. Suit for eviction of a tenant is filed. If the plaintiff fails to prove tenancy and if it is ultimately proved that the defendant is a licensee or a trespasser eviction decree can be granted. If the suit is for speicif performance and plea of agreement for sale fails payment of price, if pleaded, decree to that extent can be granted. If plaintiff claim smaller share although paid court fees for larger share and proved entitled to the larger share, decree can be granted.

To conclude it the Court has to look at the substance of the suit and not its form. **AIR 1962 SC 633, 638.** In a case reported in **AIR 1992 Orissa 76** Suit for mandatory injunction for demolition of unauthorised construction on the land of the plaintiff, plaintiff virtually asks for recovery of possession. Despite absence of prayer in that behalf prayer for recovery of possession can be allowed since parties led evidence of title and possession. Court can grant relief not claimed by the party, such as interest on deposit as it is a discretionary relief. Further we can illustrate this provision by one example more. Where a widow claiming a partition between her husband and defendant claims possession of portion of house and movables but it was found that there was no partition, it was held that widow was entitled to a declaration of title in the property and joint possession. The latest ruling is **2001 (1) M.P.H.T. 381** ***Kashi Prasad Vs. Banshidhar*** in which it was held that :

The exercise of jurisdiction to grant such declaratory reliefs beyond the terms of that section shall depend upon the facts of each case. Such a declaration may be granted when it is essential as a step to a relief in some other case or when a declaration in itself is a substantial relief and has immediate coercive effect. The Courts must exercise sound judgment while granting or refusing such reliefs. Danger to involve the opponent in vexatious litigation should be carefully avoided.

Where both the Courts below have recorded finding on the basis of evidence, available on record that plaintiff has 1/7th joint share in the property, the learned Appellate Court should not have refused the same on technical ground that it was not specifically sought for in relief clause of plaint, particularly, in order to avoid further vexatious litigaion between the parties, the First Appellate Court should have exercised discretion in the interest of justice.

●

PROCEDURE - PURPOSE OF -

"Procedure is but the machinery of law after all-the channel and means whereby law is administered and Justice reached. It strangely departs from its proper office where in place of facilitating, it is permitted ot obstruct and even to extinguish the legal rights and is made to govern where it ought to subserve."

LORD PENZANCE

"Law would be a strange science if it rested solely upon Cases."

LORD MANSFIELD

वाद प्रश्नों पर निष्कर्ष

यह वाद प्रश्न वादी/प्रतिवादी के पक्ष में/ विरूद्ध निराकृत करता हूं। यह वाद प्रश्न प्रमाणित होना अथवा प्रमाणित होना नहीं पाया जाता है। यह वाद प्रश्न सकारात्मक/नकारात्मक रूप से निराकृत करता हूं। ऐसे निष्कर्ष कम से कम तीन दशकों से अधिक समय से देखने को मिलते रहे हैं प्रशिक्षण कक्षाओं में इस संबंध में पिछले पांच वर्षों से इस विषय पर सतत् चर्चा होती रही है एवं बताया जाता रहा है कि निष्कर्ष कैसे लिखे जाना चाहिए।

कृपया व्यवहार न्यायालय नियम का नियम 155 (1) एवं उससे संबंधित दो टिप्पणियों को यहां हिन्दी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित किया जा रहा है। कृपया उसका अवलोकन अवश्य हो यदि उन्हें पूर्व में पढ़ने का अवसर न मिला हो।

मर्यादा संबंधी विषय में यदि हमें निष्कर्ष देना है तो निष्कर्ष कैसा दिया जाना चाहिए यह ध्यान रखना होगा। यदि हम उक्त विषयक वाद प्रश्न पर नकारात्मक सकारात्मक, वादी के पक्ष में, प्रतिवादी के विरूद्ध अथवा प्रमाणित अप्रमाणित जैसे शब्द लिखेंगे तो हमें पुनः वाद प्रश्न को देखना होगा कि वाद प्रश्न क्या है। अब यदि वाद प्रश्न हमने यह बनाया हो कि क्या वादी का अवधि बाध्य नहीं है तो इसका उत्तर हमारे द्वारा लिखे गए निष्कर्ष से कैसे समझ में आएगा। क्या नकारात्मक क्या सकारात्मक, क्या वादी के पक्ष/विपक्ष में या क्या प्रमाणित/अप्रमाणित। निष्कर्ष हमेशा सुस्पष्ट हो। यथा उपरोक्त विवरण के आधार से वाद प्रश्न क्र. 1 के संबंध में यह निर्णय दिया जाता है कि वादी का वाद अवधि में है। अथवा यदि अवधि बाध्य है तो यह भी लिखा जा सकता है कि वाद अवधि बाध्य है। दूसरा उदाहरण निष्कासन के प्रकरण में ऐसा निष्कर्ष लिखा जा सकता है कि उपरोक्त विवरण के आधार से वाद प्रश्न क्र. 1 के संबंध में यह निर्णय दिया जाता है कि विवादित निज स्थान की वादी को अपने परिवार के निवास हेतु वास्तविक रूप से सद्भावनापूर्वक आवश्यकता होकर अन्य कोई निज का सुविधायुक्त स्थान इस कार्य हेतु शहर इन्दौर में उपलब्ध नहीं है। ऐसा निष्कर्ष लिखने से फायदा यह है कि अधिनियम में अपेक्षित शब्दावली के आधार से निष्कर्ष दिया जा रहा है। एक बार हम यदि ऐसा निष्कर्ष देना प्रारंभ करेंगे तो धीरे–धीरे हमारी ओर से वाद प्रश्न भी ठीक से बनना प्रारंभ हो जाएंगे क्योंकि जैसा निष्कर्ष दे रहे हैं उसी अनुरूप वाद प्रश्न बनेगा। जब हम निष्कर्ष के रूप में यह लिखेंगे कि वादी का वाद अवधि में है या अवधि बाध्य है तब हम भविष्य में ऐसा वाद प्रश्न कभी भी नहीं बनाएंगे कि क्या वादी का वाद अवधि बाध य नहीं है। धारा 3 मर्यादा अधिनियम के अंतर्गत साक्ष्य भार वादी पर ही होता है अतः बिना उलझन सीधा सादा वाद प्रश्न बनता है कि क्या वाद अवधि में है।

जहां निष्कर्ष में न्यायालय से स्पष्ट रूप से खुलासे की आवश्यकता है वहां ऐसा लिखा जा सकता है कि उपरोक्त विवरण के आधार से वाद प्रश्न क्र. 1 के संबंध में यह निर्णय दिया जाता है कि विवादित संपत्ति का मूल्य रुपये पचास हजार होकर वादी ने वाद का मूल्यांकन कम किया है व कम कोर्ट फीस दी है अतः वादी को निर्देशित किया जाता है कि वह वाद को मूल्यांकन यथा आदेशानुसार कर के पर्याप्त कोर्ट फीस संदाय करें।

पता नहीं कि ये सब बातें हम क्यों नहीं करते जो हमारे से अपेक्षित है। एक जज साहेब को कक्षा में पूछा कि आप ऐसा क्यों करते हो तो उसने सीधा सपाट उत्तर दिया पहले वाले ऐसा करते आ रहे हैं इसलिए हम ऐसा करते हैं। ये तो कोई उत्तर नहीं था। कक्षा में जो बताया गया, पुस्तक में जो लिखा गया वैसा क्यों नहीं करते। इसका सही उत्तर है, पुस्तक में जो लिखा वह हमने पढ़ा नहीं तथा कक्षा में जो बताया गया उसे

सुना–समझा नहीं। विद्वान लोगों ने कई दशकों पूर्व कुछ बातें अनुभव के आधार पर लिखकर रखी हैं वे आज किसी सीमा तक ज्यादा ही समीचीन प्रतीत होती हैं।

Charlotte Bronte का कथन है कि Prejudices, are most difficult to eradicate from the heart whose soil has never been loosened or fertilised by education, they grow there, firm as weeds among stones.

मित्रो, पत्रिका के माध्यम से पूर्व में इस विषय पर कई बार लिखा गया है कि कृपया उसे पुनः देख लें।

नियम 155. (1) जबकि वाद–विषय में बनाये गये हैं तो न्यायालय को प्रत्येक वाद विषय, जिनका कि निर्णय आवश्यक है, पर पृथक रूप से अपना निष्कर्ष या निराकरण, उसके लिए कारणों सहित, लेखबद्ध करना होगा (आदेश 20 नियम 5) केवल इतना लिखना पर्याप्त नहीं है कि मैं यह वाद विषय वादी के पक्ष में निर्णीत करता हूं या मैं वाद विषय सिद्ध मानता हूं जैसा कि कभी कभी किया जाता है। इस प्रकार के निष्कर्ष (Findings) प्रायः संदिग्ध होते हैं तथा कभी–कभी पूर्ण रूप से भ्रामक हो सकते हैं। इसी प्रकार जबकि वाद–विषय नकारात्मक में बनाये गये हैं जो उनके निष्कर्ष सदा पूर्ण रूप से इस रूप में लिखे जाना चाहिये, प्रतिवादी ने प्रतिफल प्राप्त किया (या नहीं किया), व्यवहार कपटपूर्ण था (या नहीं था), उस पर दायित्व है (या नहीं है)। प्रत्येक दशा में निष्कर्ष सीधे एवं स्पष्ट शब्दों में होना चाहिए। जबकि दो या अधिक वाद–विषय इस प्रकार अन्तर्मिश्रित या परस्पराश्रित (Inter mixed and inter dependant) हैं कि उन्हें एक साथ लिये जाने में विशेष सुविधा हो तो उन्हें इस प्रकार लिया जा सकता है। निर्णय में निष्कर्ष संबंधित वाद–विषय के ठीक सामने लिखा जाना चाहिये।

नोट :- (1) यह अपील के प्रकरणों, जिसमें कि वाद–विषय बनाये गये हैं, में अपील के निर्णयों में से भी लागू होते हैं।

नोट :- (2) सभी वाद विषयों का निष्कर्ष दिया जाना चाहिए। जिस वाद–विषय को परीक्षण करने वाली न्यायालय या अपील की न्यायालय महत्वपूर्ण समझती है केवल उसका निराकरण करना पर्याप्त नहीं है, कारण कि अन्य न्यायालय उस वाद विषय के संबंध में भिन्न निष्कर्ष निकाल सकती है तथा फिर ऐसी दशा में, अन्य वाद–विषयों के निराकरण के अभाव में, प्रकरण का प्रतिप्रेषण (Remand) आवश्यक हो जाता है, जिसके कारण बहुत विलम्ब होता है।

155. (1) When issues are framed the court must record its findings or decision, with its reasons therefore, seperately on each issue which needs division (Order XX. rule 5). It is not sufficient to record "I find the issue in favour of the plaintiff" or "I find the issue proved", as is sometimes done. Such findings are often ambiguous and may sometimes be entirely misleading. similarly, when issues are framed in the negative, the findings thereon should always be expressed fully in the form "Defendant did (or did not). "He is (or is not) liable", etc. In any case the finding must be in plain and distinct terms. When two or more issues are so intermixed or interdependent that there is distinct advantages in taking them up together, they may be so taken up, In the judgment the findings should be recorded immediately opposite the corresponding issues.

Note : 1. This also applies to appellate judgments in appeal cases in which issues have been framed.

Note : 2. All the issues should be dealt with. It is not enough to dispose of what the trial or appellate court regards as a vital issue another court may arrive at a different conclusion on that issue and then in the absence of findings on the other issues, a remand becomes necessary causing great delay.

PENSION RULES IN EPITOME

BY P.K. TIWARI
Advocate and Retd. Sr. Addit Officer,
A.G.M.P., Gwalior and Ex-Accounts Officer,
High Court of M.P., Jabalpur

1. INTRODUCTION

Industrial Revolution in 19th century transformed England from an agriculturist country to an Industrialised one. The conditions of labour caused concern and towards the close of the 19th century, better living conditions were provided by law and this included pensionary benefits.

By the Act of 1858, the power of the East India Company got transferred to the British crown and the employees there of servants of the British Crown. For governance of the employees therefore, rules were made regarding their service conditions including pensions. The rules were called "Civil Service Regulations", in brief C.S.R. All Government employees in India, till the Act of 1919 which took effect from 1-1-1922, were governed by these rules. Thus these are the parent rules which have been modified from time to time and have attained various captions. From 1-1-1922, the Fundamental Rules, part of the CSR ceased to apply to employees of Provincial Governments who made their own Fundamental Rules. The pension rules of CSR continued to stay. The Constitution of India removed the concept of Provincial Governments and replaced it by State Governments. In due course of time the State Governments made their own pension rules. The CSR Rules now apply to civil employees of the Defence Department only.

2. DIFFERENT SETS OF RULES :

These changes resulted in different sets of rules in the matters of pension including Gratuity and commutation of pensions. Now pensionary matters generally are covered under the following Acts/Rules. (Isolated rules and also Rules relating to Judges are not dealt with).

1.	Judges of Hon. Supreme Court	-	Supreme Court Judges (Salaries & Conditions of Service) Act, 1958.
2.	Judges of Hon. High Courts	-	High Court Judges (Conditions of Service) Act. 1954.
3.	All India Services	-	All India Services (DCRB) Rules, 1958.
4.	Central Govt. & P & T Employees	-	Central Civil Services (Pension Rules, 1972.
5.	Railway employees	-	Railway Services (Pension) Rules, 1993.
6.	Employees of the Govt. of M.P.	-	M.P. Civil Service (Pension) Rules 1976.

Other dignitaries and armed forces are governed by separate Acts and Rules which are beyond the scope of this brief article.

3. WHAT IS PENSION, GRATUITY AND COMMUTATION

A question would now arise as to what is pension and what is commutation. Pension is a monthly amount paid to retirees so that they lead peaceful retired life. Commutation

envisages exchange or surrender of a permissible part of pension by lumpsum amount to enable pensioners to meet their urgent retirement settlement needs. Gratuity too is a lump sum payment for the same purpose. Eligibility for pension requires confirmation in some post. (But this provision is absent in MPCS Pensions Rules 76).

4. HOW TO CALCULATE

Now pension is determined on 2 factors. One the qualifying service and second the last 10 months average emoluments. On qualifying service of 33 years or more, a retiree gets 50% of the average emoluments as pension, For lesser qualifying service it will be in the proportion of qualifying service divided by 33. (This provision does not apply to Sr. No. 1 and 2 supra). On the other hand gratuity which too is a lump sum payment for fulfilling urgent requirements of pensioners is based on last emoluments and is limited to 16½ times there of with further monetary limits prescribed from time to time. The present limit is Rs. 3,50,000/- (Three Lacs Fifty Thousand only).

5. GRATUITY TO FAMILIES OF EMPLOYEES DYING DURING GOVT. SERVICE

The nominees as permitted in the rules are entitled to get a certain minimum amount of gratuity. If no nomination is made, the payment is to be made to surviving members of the family as defined under the Rules [Rule 44 (5) of M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976 in the case of State Government servants- Rule 50 (6) of CCS (Pension) Rules 1972 in case of Central Government employees and R. 70 of Railway Services (Pension) Rules 1993 in case of Railway pensioners.]

6. FAMILY PENSION

on the death of a Government servant, his family as per details given by the employee to his Head of office, gets family pension. In case of death of the retiree, the family members begin to get family pension. The pension is stopped because family pension is then begun (Rule 54 of CCS (Pension) Rules 54, Rule 75 of the Railway Services (Pension) Rules 1993 & Rule 47 of M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976).

7. PENSION AND GRATUITY NO BOUNTY BEING PROPERTY OF THE RETIREE

It is a **fundamental right.** ***State of Punjab Vs. K.R. Erry, 1972 SLR 836 (SC). Salaluddin Mohd. Yunus Vs. State of Andhra Pradesh, 1984 (3) SLR 119 (SC). R. Kapoor Vs. Director of Inspection (Income Tax), 1995 (1) Uplbec 89 (SC).***

8. CAN PENSION BE REDUCED/STOPPED - YES

By the President of India in the case of Central Government employees vide Rule 9 of the CCS (Pension) Rules 1972. In the case of **All India Services** by the **Central Government** vide Rule 6 of the AIS (DCRB) Rules 1958. By the President of India in the case of Railway employees vide Rule 9 of the Railway services (Pension) Rules 1993. In the case of State Government Employees by Governor vide rule 9 of the M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976. For the purposes of Rule 9 of CCS (Pension) Rules 1972, Pension includes gratuity, Union of India Vs. G. Ganeyunatham, 1998 (2) SLJ 103 (SC).

9. INTEREST ON BELATED PAYMENT OF DCRG

There is no provision in the M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976. Officers of AIS & Central Government employees and employees of Railways have this benefit vide Rule 19-A of AIS (DCRB) Rules 1958 : Rule 68 of CCS (Pension) Rules 1972 and Rule 87 of

the Railway Services (Pension) Rules 1993. The payment of interest is in like manner as for Provident Fund deposits. However, penal interest is attracted vide ***State of Kerala Vs. M. Padmanathan Nair (1985) 1 SCC 429*** if payment of retiral dues is delayed.

10. EFFECT OF DISMISSAL OR REMOVAL

There is forfeiture of service on dismissal or removal. Hence no pension- Rule 24 of CCS (Pension) Rules 1972. In the case of M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976. also Rule 24. in the case of Railway employees the corresponding Rule is 40, of Railway Services (Pension) Rules 1993 and in the case of AIS officers Rule 5 of the AIS (DCRB) Rules 1958.

11. RESIGNATION

Resignation from service unless allowed to be withdrawn, entails forfeiture of past service (Rule 26 of CCS (Pension) Rules, 1972 ; Rule 26 of M.P. Civil Services (Pension) Rules 1976, Rule 5 of AIS (DCRB) Rules 1958 and Rule 41 of Railway Services (Pension) Rules 1993. Hence no pension is payable. Under FR 17 also no pay is payable from the date of resignation. However, resignation has been equated with voluntary retirement in the case of ***JK Cotton and Spinning Mills Vs. State of U.P., AIR 1990 SC 1808.*** The impact of this is that if a Government servant resigns after putting in duly verified qualifying service of 20 years or more, he may not loose pension. He shall get proportionate pension. In other cases resignation shall entail forfeiture of past service and there shall be no pension in that case. But there are no Govt. instructions whether pension should be paid if resignation is after 20 years verified qualifying service.

12. INTEREST ON COMMUTATION

Interest not payable on commutation because till commutation value is paid pensioner gets full pension. Reduction occurs only after payment. Commutation Rules make no room for interest.

13. VOLUNTARY RETIREMENT

Rule 42 of M.P. Civil Services (Pension) Rules provides that a Government servant can seek voluntary retirement after completion of 20 years of qualifying service. Such retirement is automatic on expiry of notice period unless notice is allowed to be withdrawn or because of suspension, he is not permitted to retire voluntarily. Under Rule 42 (b) State too has power to retire after 25 years of service and even if D.E. pending such compulsory retirement can be done. ***Smt. Subha Bai Vs. D.J. Durg. 1998 (1) MPJR 421.***

Rule 48 of CCS (Pension) Rules 1972 is similar except that instead of 20 years, 30 years is prescribed. It has been held in a catena of judgments that voluntary retirement is automatic and no acceptance is necessary. ***U.O.I. V. Syed Muzzaffer Mir. AIR 1995 SC 176. 1994 AIR (SCW) 4228.*** But in the case of **H.P. Harticulture Produce Marketing and processing corporation Ltd., AIR 1996 SC 1353,** it has been held that it is not automatic and permission is necessary.

There is yet another Rule 48-A under the Central Civil Service (Pension) Rules which permits voluntary retirement after 20 years of qualifying service but here acceptance of the notice by appointing authority is compulsory. The leading judgment on this rule is that of ***Balram Gupta V. UOI AIR 1987 SC 2355*** holding that if circumstances changed, the notice could be withdrawn. But strictly viewed this judgment covers rule 48-A. Rule 48 is

not covered. So also Rule 42 of MPCS (Pension) Rules 1976 would be out of its purview as there is no rule corresponding to Rule 48-A. Therefore this distinction is important. What is equally significant is that voluntary retirement automatic position is not exploited to evade punishment. The Voluntary retirement Rules for AIS Officers are contained in Rule 16 of AIS (DCRB) Rules 1958.

14. WHAT RULES GOVERN RETIREMENT

(a) **Retirement under FR 56-** On reaching prescribed age of superannuation or retirement to weed out inefficient and dead weed. This rule also provides for voluntary retirement.

(b) **Retirement due to punishment :-** Following prescribed procedure under CCS (CCA) Rules 1965 or under MPCS (CCA) Rules, 1966. Such retirement is known as compulsory retirement. Corresponding rules exist under Railway Services (Pension) Rules 1993 and AIS (Discipline & Appeal) Rules 1959. (C) Compulsory retirement is provided under rule 48 of CCS (Pension) Rules 1972 ; under Rule 42 of M.P. Civil Service (Pension) Rules 1976. The Corresponding rules are Rule 16 (3) of All India Services (DCRB) Rules 1958 & Rule 66 of Railway Services (Pension) Rules 1993.

15. In Dealing with pension matter the particular rules which govern the matter must be considered and not other rules generally. It may also be noted that compulsory retirement can also be result of punishment awarded under respective Classification Control & Appeal Rules or discipline & Appeal Rules (in case of AIS Officers).

●

बेहतर है जान लीजिए

अध्याय 14

जुर्माने की वसूली (उद्ग्रहण)

नियम 352. यदि कोई व्यक्ति जुर्माने से दण्डादिष्ट होते समय, चाहे साथ में उसे और कोई भी दण्ड दिया गया हो या नहीं, पूर्ण या उसके भाग का भुगतान अधिरोपित करने वाले पीठासीन अधिकारी को निविदत्त करता है तो वह पीठासीन अधिकारी उस निविदत्त वैयक्तिक रूप से प्राप्त करेगा तथा अपने लेख से उसे निर्धारित प्रारूप (क्रमांक XV99-OR) पर रसीद देगा। वह उस भुगतान की प्रविष्टि मामले के आदेश–पत्र में करेगा तथा उस पर हस्ताक्षर करेगा। यदि जुर्माने का भुगतान नहीं हुआ अथवा केवल उसके भाग का भुगतान है तो पीठासीन अधिकारी इस तथ्य का लेख मामले के आदेश–पत्र में इस प्रकार करेगा –

'जुर्माने का भुगतान नहीं हुआ/ रु. ..... की सीमा तक भुगतान हुआ। रु. ..... की वसूली हेतु कार्यवाही प्रारंभ की गई तथा इसी प्रकार की प्रविष्टि प्रारंभिक मामलों की पंजी में दण्डादेश के विवरण के अन्तर्गत करेगा। वह तत्काल वसूली की कार्यवाही खोलेगा जो कि भाग 6, अध्याय 24, नियम 575 मद (8) के अनुसार विविध न्यायिक प्रकरण के रूप में पंजीबद्ध की जावेगी। ऐसी कार्यवाही का प्रथम आदेश–पत्र शेड्यूल 5 का प्रारूप क्रमांक 197 है। प्रथम प्रविष्टि पीठासीन अधिकारी स्वयं अपने हाथ से भरी जाएगी।

FLASH

1. **(1) Cr.P.C., SECTIONS 451 TO 459 (2) MOTOR VEHICLES ACT, GENERALLY : CLAIM CASES : RELEASE OF VEHICLE INVOLVED IN ACCIDENT : N.D. SINGHAL'S CASE OVERRULED :**
S.L.P. IN CRI. APPEAL NO. 2802/2000, ORDER DATED 9-2-2001 BY THE SUPREME COURT
SIYARAM SINGH Vs. STATE OF M.P.

This petition is directed against the impugned order of the High Court, the High Court having refused to exercise its power under Section 482 on being approached because of certain directions of the Court in ***N.D.. Singhal Vs. State of M.P.*** **[1999 (1) Vidhi Bhasvar).** It appears that on a public interest litigation, the Court had issued certain directions in **Singhal's case** as the Court came to the conclusion that in Motor vehicles accidents claims, the claimants are facing a great deal of inconvenience in getting compensation as such the direction purports to redress the grievance of the claimants generally. It is contended before us by the learned counsel for the petitioner that the aforesaid direction takes away the discretion of the appropriate authority under the Code and tantamount to a Legislation by the Court, which the Court does not possess. The learned counsel for the respondent, on the other hand, contended that such directions have been issued for the benefit of the entire litigants in all such cases, and as such the said direction in Singhal's case should not be interfered with.

Having regard to the facts and circumstances of the case, and going through the directions contained in Singhal's case, we have no manner of doubt that such direction obviously takes away the discretion of the appropriate court under different provisions of the Code, which cannot be taken away by observation of the High Court however beneficiary directions may be. In that view of the matter, we observe that the discretion of the appropriate court under any provision of law is not fattered with the aforesaid directions.

The special leave petition is disposed of.

●

BAIL, PRECEDENT WHAT IS NOT?

2. **(1) 438 CR. PC. BAIL (2) BAIL UNDER E.C. ACT MODE OF CONSIDERATION-EXPLAIEND. ORDER BY HON'BLE JUSTICE SHRI S.P. KHARE (JBP. SEAT) IN MISC. CR. C. NO. 814/2001, *BALWANT VS. STATE. DELI* VERED ON 05-3-2001**

ORDER

1. This is an application under section 438 of the Code of Criminal Procedure, 1973 (hereinafter to be referred to as **'the Code'**) for anticipatory bail. It relates to Crime No. 23/2001 of Police Station Multai, District Betul.

2. The case has been registered under Section 7 of the Essential Commodities Act, 1955 (hereinafter to be referred to as **'the Act'**) for contravention of Clause 4 (c) of the Kerosene (Restriction on Use and Fixation of Ceiling Price) Order. 1993 (hereinafter to be referred to as **'the control order'**) issued under section

3 of the Act. Applicant Balwant is said to have been found selling kerosene at the rate of Rs. 8.50 per litre. According to the prosecution retail price of kerosene fixed under the Control Order was Rs. 7.90 per litre. This offence is punishable under section 7 (1) (a) (ii) of the Act. The punishment provided for this offence is imprisonment which may extend to seven years.

3. The first point which has been raised on behalf of the applicant is that the offence punishable under section 7 of the Act is bailable. Reliance has been placed on the order dated 15.10.1999 (by Hon'ble Dipak Misra, J.) In M.Cr.C. No. 6111 of 1999 ***Nemchand Agrawal v. The State of M.P.*** and a reported decision- **Dinesh Kumar Dubey v. State of M.P. [2001 (1) MPHT 213]** (by Hon'ble R.S. Garg. J.). During the course of hearing two more decisions have been cited, one dated **30.12.99 (by Hon'ble S.S. Saraf, J.)** and the other dated **20.11.2000 in M. Cr. C. No. 7681/ 2000 (by Hon'ble S.C. Pandey, J.)** These decisions have also taken the view that offence under section 7 of the Act is bailable.

4. Before considering the cases referred to above in detail, it is necessary to look at the statutory provisions. Section 10-A of the Act inserted by the Amending Act (No. 36 of 1967) provided that every offence punishable under the Act shall be bailable. By the Amending Act (Act No. 30 of 1974), the words "and bailable" were deleted from Section 10-A of the Act, The effect of the deletion of these words from Section 10-A was that there remained no specific provision in the Act on the point whether the offences punishable under it are bailable or non-bailable. This attracted the applicability of Schedule I-part II "Classification of offences against other laws. " A reference to this Schedule shows that if an offence is punishable with imprisonment for three years and upwards that would be "non bailable". If the offence is punishable with imprisonment for less than three years or with fine only it would be bailable, According to section 7 (1) of the Act if any person contravenes any order made with reference to Clause (h) or Clause (i) of sub-Section (2) of Section 3, he shall be punishable with imprisonment for a term which may extend to one year and in the case of any other order with imprisonment which may extend to seven years. The contravention of Clause 4 (c) of the Control Order issued under Section 3 of the Act is punishable with imprisonment which may extend to seven years.

5. Then came the Essential Commodities (Special Provisions) Act, 1981 (Act No. 18 of 1981) by which the words "and non bailable" were added in Section 10-A of the Act. This amendment was not a permanent feature of the Act. It was for a specified period and it was extended from time to time. The said amendment ultimately lapsed after the expiry of the period of the Essential Commodities (Amendment) ordinance, 1998 which was promulgated on 25-4-1998. As the amendment which was incorporated in 1981 has come to an end by efflux of time, the words "and non-bailable" in Section 10-A of the Act stand delated. Therefore, Section 10A as amended in 1974 will hold the field now. As already discussed, the offences under section 7 (1) (a) (ii) and 7 (2) of the Act which are punishable with imprisonment for seven years are non-bailable by virtue of the provisions in Schedule I part II of the Code.

6. Now the cases relied upon by the learned counsel for the applicant should be considered. In ***Nemchand Agrawal v. State of M.P.*** the arguments mainly centred round the point whether the amendment which was made in 1981 to Section 10-A of the Act and which was extended from time to time still subsists. After tracing the steps taken to renew the life of 1981 Amendment it has been held that it has lapsed. It was not brought to the notice of the Bench that by an amendment made in 1974 the word "bailable" was deleted from section 10-A of the Act and therefore the Schedule I- part II to the Code should be referred to for determining the question whether the offence punishable under the Act is bailable or non-bailable. It was assumed that once it is shown that the amendment made in 1981 ceased to remain in force the offence would become bailable. The question whether the offence in question is bailable or non-bailable was not considered in light of the relevant statutory provision in Schedule I (Part-II) of the Code,

7. In ***Dinesh Kumar Dubey v. State of Madhya Pradesh [2001 (1) M.P.H.T. 213]*** the same point came up for consideration. In that case in para 4 it has been observed. "in the absence of any other provisions showing the offence to be non-bailable, the offence would continue to be bailable in view of Schedule-II to the Code of the Criminal Procedure, 1973." But on reference to this Schedule it is clear that the offence punishable with imprisonment for more than three years is non-bailable. In the two other cases reliance was placed on the order in ***Nemchand Agrawal v. State of M.P.*** **M. Cr. C. 6111 of 1999.**

8. **What is precedent :** As demonstrated earlier the statutory legal position, as it exists today, is that the offence under section 7 (1) (a) (ii) of the Act which is punishable with imprisonment for seven years is non-bailable. The question is whether the view taken in the four cases referred to above sould be followed by this Bench or there is a scope for clarification without referring the matter to a larger Bench. **It is axiomatic that a decision is an authority for the question of law which it decides and not for a question which was not raised or considered. A sub-silentio order or assumption in disregard of a clear and unambiguous statutory provision is not a precedent. If a provision in a statute is construed or interpreted one way or the other that would be a precedent for the future and would be binding on coordinate benches. But something which has been assumed and not decided cannot be considered as authoritative binding precedent.**

9. Where a certain point of law is not brought to the view of the Court in determining a cause, the decision is not a precedent calling for the same decision in a similar case in which the point is brought before the court. ***(Law Lexicon by P.R. Aiyar edited by Justice Y. V. Chandrachud 1997 edition page 1494).*** In ***Goodyear India Ltd. vs. State of Haryana*** **(AIR 1990 S.C. 781)** it has been observed by the Supreme Court that a decision on a question which has not been argued cannot be treated as a precedent. If an ingredient of a section was neither argued nor was considered, the passing reference based on the phraseologyof the section cannot be said to be the dictum.

10. Failure to consider a statutory provision is one of the clearest cases in which the court is not bound to follow its own decisions. [***Bonalumi v. Secretary of State*** (1985) 1 All ER 797]. In ***Young v. Bristol Aeroplane Co., Ltd*** **[(1944) 2 All E.R. 293]** it has been observed by Lord Greene, M.R. "Where the court has construed a statute or a rule having the force of a statute, its decision stands on the same footing as any other decision on a question of law. But where the court is satisfied that an earlier decision was given in ignorance of the terms of a statute or a rule having the force of a statute the position is very different. It cannot, in our opinion, be right to say that in such a case the court is entitled to disregard the statutory provision and is bound to follow a decision of its own given when that provision was not present to its mind. Cases of this description are examples of decisions given per incuriam." It has been held by a Division Bench of this Court in ***United India Insurance Company v. Mahila Ramshree*** **[1996) JLJ 691]** that judgment is per incuriam if the relevant law has not been considered and it has no binding effect.

ORDER OF THE COURT :

11. In view of the above discussion it must be held that the cases falling under section 7 (1) (a) (ii) of the Act being punishable with imprisonment which may extend to seven years read with Schedule I part II to the Code are non-bailable". In the present case the alleged contravention of the Control Order is punishable under section 7 (1) (a) (ii) of the Act. The applicant who was found selling kerosene in excess of the price fixed under the Control Order does not on the facts and in the circumstances of the present case deserve anticipatory bail. The application for anticipatory bail is rejected.

12. A number of cases have come before this Court which go to show that there is confusion in the minds of the subordinate Courts whether the offences under the Act are bailable or non-bailable. Therefore, a copy of this order be immediately circulated amongst all the subordinate Courts.

●

संशोधन

ज्योति जनरल माह फरवरी 2001 में कुछ त्रुटियां अक्षर संयोजन की हुई हैं उन्हें कृपया सुधार लें।

1. पृष्ठ 38, टिट बिट क्र. 6 पंक्ति क्र. 10 में **nnot** में प्रथम **n** कम करना।
2. पृष्ठ 40, टिट बिट क्र. 10 शीर्षक में **stay to suit** में **to** के स्थान पर **of** पढ़ना।
3. पृष्ठ 42, टिट बिट क्र. 19 में अंतिम पंक्ति में **Compromis** में अंत में **e** जोड़ना।
4. पृष्ठ 51, टिट बिट क्र. 26 में **Court Material** एवं **Court Marshall** जहां प्रयोग हुआ है उस स्थान पर **Court Martial** पढ़ना।
5. पृष्ठ 53 पर टिट बिट क्र. 32 में शीर्षक में ये शब्द कि **DEFECT IN INVESTIGATION- NO ADVERSE EFFECT** जोड़ना।

OPINIONS AND VIEWS EXPRESSED IN THE MAGAZINE ARE OF THE WRITERS OF THE ARTICLES AND NOT-BINDING ON THE INSTITUTION AND FOR JUDICIAL PROCEEDING.